CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३'२

चिन्तामणि

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, भदैनी
वाराणसी-५

ग्रन्थालय
दी, वाराणसी-५
प.५.1/36

५२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"...give me thy inner beauty, Mother–the purity of the spirit!"

Walking across a field, six-year old Gadadhar Chattopadhyaya beheld a vision of exquisite beauty: a flight of snow-white cranes traced against a great black cloud. He went into ecstasy and fell unconscious. From then on this highly sensitive child went through a series of spiritual experiences, studied deeply the holy books of all faiths and was initiated into the true Vedic "dharma" by sage Totapuri who also named him Ramakrishna Paramahamsa. Ramakrishna was love incarnate: he loved the world, the universe—everyone of God's creatures.

Saints like Ramakrishna Paramahamsa are gifted with universal love and compassion. To them, even inanimate objects become alive with God! They serve God through His creation—a service born of the conviction that the entire Universe is filled with God! Sainthood is a universal phenomenon.

MAFATLAL GROUP

AIYARS.M.473

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

- प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि
- पुरुषार्थ-प्रतिपादक
- प्रसन्न-गम्भीर

चिन्तामणि

वर्ष १३ । अङ्क ४
वार्षिक मूल्य : आठ रुपये मात्र
एक प्रति : दो रुपया पचास पैसा

संस्थापक: अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

सम्पादक

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

व्यवस्थापक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल', २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग
बम्बई-४००००६

वर्ष १३ : अङ्क ४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वस्त्ययन — अथर्ववेद — ३१७

वार्तिकामृत
अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी ३१८

वाल्मीकि रामायण : शरणागति
डा०वि० कृष्णस्वामी अय्यंगार ३२६

गीताका दैनिक जीवनमें उपयोग
अनन्तश्री स्वामी अ०स० महाराज ३३६

गुरुपूर्णिमापर — श्रीमती शीला भुवालका ३४८

आत्मोल्लास — श्री 'विष्णु' ३४९

विमर्शनीयशांकरभाष्यम् : एक चिन्तन
विरक्तशिरोमणि श्रीवामदेव जी महाराज ३५६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर प्राप्त कराये गये कागजपर मुद्रित

श्रीभक्तिरसायनम्
अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज २६१
चने खाओ न० भा० टा० ३६८
श्री चांगदेव पैंसठी श्री यशवन्त बलवन्त क्षीरसागर ३७०
मुस्कान : रोनेसे आसान फरहत कमर ३७९
भ्रूणका विकास ३८१
तिरुवल्लुवरकी जैन-भावना श्री इन्दरराज वैद 'अधीर' ३८२
जिन्दगी, याद, वक्त, श्री रामाश्रय दीक्षित ३८५
आनन्द-जयन्ती अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी ३८६
ऋषिदासी श्री जगन्नाथ पाठक ३९७
अनादि शासन-संविधान वेद है
अनन्तश्री विभूषित स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज ४०२
English
Karma, The Universal Law of Conservation
and Causality
—Jnan H. Adhin 406

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्साहित्य प्रकाशन (पब्लिकेशन) ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६, बो० जो० खेर मार्ग, मलाबार हिल, बम्बई–४००००६
फोन : ८१७९७६

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं संस्था द्वारा प्रकाशित अनुपम आध्यात्मिक साहित्य

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण)	१०.००
२. माण्डूक्य-प्रवचन (अद्वैत प्रकरण)	४.५०
३. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६.००
४. कठोपनिषद्-प्रवचन–१	९.००
५. कठोपनिषद्-प्रवचन–२	१२.००
६. मुण्डकसुधा	३.७५
७. ईशावास्य-प्रवचन	४.००
८. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-१	१०.००
९. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-२	१०.००
१०. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-३	१०.००
११. विवेक कीजिये–१	५.५०
१२. विवेक कीजिये–२	९ ००
१३. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
१४. कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
१५. ध्यानयोग (छठाँ अध्याय)	६.००
१६. ज्ञान-विज्ञान-योग(अ. ७)	६.००
१७. विभूतियोग (दसवाँ अ०)	५.२५
१८. गीता-दर्शन–१	५.५०
१९. गीता-दर्शन–२	५.००
२०. नारद भक्ति-दर्शन	९.००
२१. गोपियोंके पाँच प्रेम-गीत	०.४०
२२. भागवत विचार-दोहन	३.००
२३. मोहन नी मोहिनी (गुज०)	०.६०
२४. श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
२५. कपिलोपदेश	३.७५
२६. व्यवहार और परमार्थ	३.७५
२७. मानव-जीवन और भागवत-धर्म	४.५०
२८. वेणुगीत	३.००
२९. श्री भक्तिरसायनम्	१२.००
३०. श्री भक्तिरसायन-प्रपा	३.००
३१. च० नि० आणि ब्रह्मज्ञान (मराठी)	१.५०
३२. महाराजश्रीका एक परिचय (गुजराती)	१.९०
३३. महाराजश्रीका एक परिचय	१.००
३४. आनन्दवाणी, भाग–५ (गुजराती)	२.२५
३५. ज्ञान-निर्झर	०.९०
३६. आत्मबोध	३.००
३७. राम-शताब्दी-स्मृति	२०.००
३८. श्री अखण्डानन्द स्तव	१.००
३९. महाराजश्री चित्रावली	११.००
४०. Glimpses of Life Divine	1.50
४१. Ideal and Truth	5.25

प्राचीन-अर्वाचीन, ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधी पुरुषार्थ-प्रतिपादक प्रसन्न-गम्भीर त्रैमासिक पत्रिका 'चिन्तामणि' वार्षिक शुल्क रु० ८.०० : एक प्रति रु० २.५०

पाठकोंकी सुविधाके लिए ट्रस्ट को भिन्न-भिन्न सदस्यता—श्रेणियाँ हैं, जिनके अन्तर्गत पूरा साहित्य भेंट स्वरूप एवं कमीशन पर दिया जाता है। कृपया अधिक जानकारी के लिए कार्यालय से सम्पर्क कीजिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगस्त, '७६
१३–४

चिन्तामणि

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

स्वस्त्ययन

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥ ३॥

अथर्ववेद—का० १९, अनु० १, सूक्त ९, मन्त्र ३

यह वाग्देवी (वाणी) परमेष्ठिनी है, सर्वोपरि स्थित है अथवा परमेष्ठी ब्रह्माकी शक्ति है (इसमें सृष्टिके निर्माणका सामर्थ्य है)। वेदमन्त्रोंने इसके स्वरूपका प्रतिपादन (शंसन) किया है (स्तुति करनेसे देवताका बल बढ़ता है और कार्यक्षम होता है)। विद्वानोंने अपने भीतर इसका ठीक-ठीक अनुभव किया है। इस वाणीरूप वाग्देवीके द्वारा घोरकी सृष्टि की गयी है। अर्थात् किसीको शाप दिया गया है तो किसीके हृदयमें चोट पहुँचायी गयी है। अब यही वाणी हमारे लिए शान्तिकारक हो, अर्थात् अपने द्वारा जो भयोत्पादक, दुःखदायक वचनोंका उच्चारण किया गया है उस घोर कर्मकी शान्ति हो। वाणीसे ही अनर्थकी उत्पत्ति हुई है और वाणी ही उस अनर्थको शान्त करे। इसका अभिप्राय यह है कि अब हम अपनी वाणीसे ऐसे कटु वचनका उच्चारण न करें जिससे दूसरेके हृदयमें चोट लगे, दुःख हो; अनिष्ट वा अनर्थकी सृष्टि हो।

•

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वार्तिकामृत

बृहदारण्यकवार्तिकसारके अनुसार

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

अब एक प्रश्न उठता है। श्रुतियोंमें ब्रह्मज्ञानके फलका जो वर्णन है क्या वह अर्थवाद है? निश्चय ही वह अर्थवाद नहीं है। हाथ कंगनको आरसी क्या? यदि ब्रह्मज्ञान कोई विधिसिद्ध साधन होता तो अर्थवाद वाक्यके साथ उसकी एकवाक्यता होती। परन्तु ब्रह्मज्ञान तो सिद्ध वस्तुका बोध है। अतः उसमें पहले या पीछे फलका अर्थवाद रूपसे वर्णन निष्प्रयोजन है। फिर भी हम थोड़ी देरके लिए मान लेते हैं कि वह अर्थवाद ही है। क्योंकि तत्त्वमस्यादि महावाक्यके द्वारा बोध और शोक सन्तरण आदि फल श्रुतिमें वर्णित हैं। एकवाक्यताकी दृष्टिसे ब्रह्मज्ञान मुख्य और फल गौण है। अत अभ्युपगम सिद्धान्तमें अन्य परक वचनको अर्थवाद मान लेनेमें कोई हानि नहीं है।

परन्तु विचारणीय यह है कि यह अर्थवाद भूतार्थवाद है या गुणवाद है। जहाँ वाच्यार्थके साथ कोई विरोध होता है वहाँ गुणवाद-रूप अर्थवाद होता है। जैसे मनुष्यको सिंह कहें तो सिंह शब्द जाति या व्यक्तिका वाचक नहीं होता, शूरता, क्रूरता आदि गुणोंका ही वाचक होता है। परन्तु जहाँ वाच्यार्थके साथ किसी अन्य प्रमाणका विरोध नहीं होता, वहाँ भूतार्थवाद होता है। भूतका अर्थ है यथार्थ। ब्रह्मज्ञानका जो फल है ब्रह्म होना, परतत्त्वको प्राप्त होना या शोककी निवृत्ति इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए यह सत्य अर्थवाद है। अतः अपने वाच्यार्थमें ही प्रमाण है। ब्रह्मज्ञानका फल प्रत्यक्ष सिद्ध है, अपरोक्ष अनुभव है। अतः यह ब्रह्मज्ञानके अनन्तर अनुवाद भी है। जैसे अग्नि शीतका औषध है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्रुति इसका अनुवाद करती है। इसी प्रकार ब्रह्म आत्माके एकताके बोधसे शोक सन्तरण प्रत्यक्ष है। किसी भी अन्य प्रमाणसे सिद्ध वस्तुका पुनः निरूपण करना अनुवाद है। आत्मा ब्रह्मकी एकता सिद्ध वस्तु है। अतएव द्रष्टव्य भी विधि नहीं है। ऐसी अवस्थामें दर्शनका प्रत्यक्ष फल भी अनुवाद ही है, गुणवाद नहीं। आत्माके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मत्वका ज्ञान निश्चय ही संसारसे पार कर देता है।

जो संसार-सागरसे पार हो गया वह पुनः अपनेको कर्ता, भोक्ता अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व ही तो अज्ञानमूलक रोग हैं, अनर्थ हैं। इन्हींका तो परित्याग करना था। ईश्वर नित्यमुक्त होनेपर भी माया-सामग्रीसे सृष्टि, संहारकी लीला विनोदार्थ करता रहता है। परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुष इस लीला विनोदसे भी मुक्त रहता है। क्योंकि न उसमें लीलाविनोदकी इच्छा है और न कारक सामग्री है। कर्तापन और भोक्तापनका स्वभाव दृश्य होता है। आत्मा दृङ्मात्र है। उसके साथ दृश्यका सम्बन्ध अविद्या-कल्पित है। अतः आत्मा कभी दृश्य नहीं होता। प्रमाता साक्षीका दृश्य है। प्रमातासे प्रमाणकीउत्पत्ति होती है। प्रमाणसे प्रमेयका दर्शन होता है। ये तीनों ही साक्षीके दृश्य हैं। प्रमाण प्रमातामें रहता है। प्रमेयको विषय करता है। प्रत्यगात्मा तीनोंका साक्षी है। अतः इन तीनोंकी प्रवृत्ति साक्षीके प्रति नहीं होती। जैसे आकृतियाँ नेत्रको नहीं देख सकतीं, मशाल आगको नहीं जला सकती। प्रत्यक्षादि प्रमाण अनात्मा भोग्यकर्ता आदि पदार्थोंका बोध कराते हैं, परन्तु यह भी तो देखिये कि वे पदार्थ किसी दूसरेके भोगके लिए बने हैं, अनेक पदार्थोंके मेलसे। उनसे भला शुद्ध साक्षीका बोध कैसे हो सकता है? यह साक्षी है और यह साक्ष्य है, यह सम्बन्ध साक्षीमें कल्पित है। साक्षीको साक्ष्यकी अपेक्षा नहीं है, वह केवल अनुभव-स्वरूप है।

क्या इच्छाएँ आत्मामें होती हैं? क्या द्वेषका निवास आत्मामें है? क्या आत्मा धर्माधर्म या सुख, दुःखसे युक्त होता है? इसका उत्तर है इन सबका चेतन आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। इच्छा, द्वेष आदि आत्मासे भिन्न हैं तो मैं इच्छावान्, मैं द्वेषी, यह तो केवल एक कल्पना है। श्रुतिने भी कहा है कि काम संकल्प मनोधर्म है, आत्म-धर्म नहीं। यदि अभिन्न हैं तो धर्म धर्मी कैसे? भेदाभेद तो किसी प्रकार युक्ति-युक्त नहीं है। अतः आत्माके साथ इनका सम्बन्ध केवल अविद्या-प्रसूत कल्पना है। इच्छा, द्वेष, कामसंकल्प, संशयसे दुःखी होना पड़ता है। यदि यह सब आत्मामें होते या आत्माके होते तो वह इनके द्वारा स्वयं अपना अनर्थ क्यों करता? जानबूझकर कोई अपने आपसे शत्रुता नहीं करता है। अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही इनको अपने साथ जोड़ा जाता है। यदि अपनेको ब्रह्म न जाननेके कारण इन अनर्थकारी दोषोंको आत्मधर्म मान लिया गया है तो दूसरी बात है। वेदान्त आत्म-स्वरूपका प्रबोध कराके अविद्याको निवृत्त कर देगा, फिर उसके कारण होनेवाले अनर्थ स्वयं निवृत्त हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जायेंगे। अविद्यासे जो वस्तु प्रतीत होती है वह वस्तुत: नहीं होती। ज्ञानसे जो वस्तु मिटती है वस्तुत: वह भी नहीं होती। अज्ञानसे अनर्थका होना और ज्ञानसे उनका मिटना सिद्ध करता है कि उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है, मिथ्या हैं।

घट-पट आदि अनेकों वाह्य विषय हैं। उन्हें पराक् अर्थात् दृश्य अथवा विषय कहते हैं। उनके सम्बन्धमें जो संवित् होती है उसको प्रमाणका फल मानते हैं। वस्तुत: वह फल नहीं है। फलजन्य होता है, परन्तु संवित् ज्ञान नित्य होता है। प्रमाण प्रवृत्तिके पश्चात् प्रकाशित होनेसे संवित्को फल कहते हैं। वस्तुत: वह संवित् घट-पट देश-काल आदिके भेदसे भिन्न-भिन्न नहीं है, एक ही है। विषय भेदसे पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है। यदि उपाधिसे पृथक् करके देखें तो अन्त:करण उपाधि घट आदि उपाधि हैं। इन उपाधियोंसे अवच्छिन्न चेतन स्वरूपसे अनवच्छिन्न ही है। अत: तात्पर्य वृत्तिसे वही प्रमेय है। वेदान्तोंके द्वारा उसी आत्मरूप संवित्का निरूपण किया जाता है।

घटज्ञान उदय हुआ और घट-ज्ञानका विलय हुआ, यह प्रतीति घट पर दृष्टि होनेके कारण हैं। घटपटादि विषयसे विविक्त करके ज्ञानको देखें तो वह नित्य ही है। उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति औपाधिक है। जैसे घटाकाश उत्पन्न हुआ, घटाकाश नष्ट हुआ, इस प्रतीतिमें घटके ही उत्पाद और विनाश हैं, आकाशके नहीं। वैसा ही संवित् ज्ञान चेतन आत्माको भी समझना चाहिए। यदि वेदान्तमें प्रमाता और प्रमेयकी भेद-कल्पना स्वीकार कर ली जायेगी अर्थात् द्वैतको प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध मान लिया जायेगा, तो द्वैतके मिथ्यात्वका बोध ही नहीं हो सकेगा। वेदान्त कारक नहीं है, बोधक है। अत: ध्यान, उपासना करनेके लिए वेदान्त है, ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए।

अच्छा, मान लिया कि वेदान्त केवल सिद्ध वस्तुका बोधक ही है, विधि-विधान या निषेधका प्रेरक नहीं है। परन्तु इसमें आपत्ति यह है कि वेदका विधि, निषेध भाग अर्थात् कर्म-काण्ड सर्वथा अप्रमाण हो जायेगा। क्योंकि फिर तो कर्मका उच्छेद ही हो जायेगा। ऐसी स्थितिमें यदि वेदका विधिभाग अप्रमाण है तो वेदान्त-भाग क्यों नहीं? क्योंकि दोनों ही वेद हैं। कर्मकाण्डके पक्षमें प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाणोंका अनुग्रह भी है। ऐसी स्थितिमें कर्मकाण्डको न मानकर वेदान्तकी प्रामाणिकतापर भी संशय उत्पन्न करना उचित नहीं है। पूर्व पक्षीकी यह शंका वेदान्तका अभिप्राय न समझनेके कारण है, क्योंकि हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्मकाण्ड, उपासना, योग सभी विषयों के वेद-वचनको प्रमाण मानते हैं। उन प्रमाणोंसे उनके विषयोंकी सिद्धि भी होती है, परन्तु कबतक? जबतक आत्मा और परमात्माकी सिद्ध एकताका बोध नहीं होता। क्योंकि बोधके पूर्व तो अबाधित ही रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि कर्मकाण्डका व्यावहारिक प्रामाण्य है और वेदान्तका तात्त्विक प्रामाण्य है। आत्मज्ञान होनेके पश्चात् कर्ता, करण, कर्म, कर्मफल सभी बाधित हो जाते हैं। वे प्रमाण भी बाधित हो जाते हैं जो उनका प्रतिपादन करते हैं। निश्चय ही प्रबल प्रमाणसे दूसरे प्रमाण भी बाधित हो जाते हैं।

वैदिक विधिके मर्मज्ञोंको यह ज्ञात है कि वेदोंमें श्येन यागका भी वर्णन है और अहिंसाका भी विधान है। परन्तु अहिंसा-विधि प्रबल है और श्येनयागकी विधि निर्बल है। पहली विधिसे दूसरी विधिका बाध हो जाता है। इसी प्रकार द्वैत प्रमाण निर्बल हैं और अद्वैत प्रमाण प्रबल हैं। अद्वैत प्रतिपादक वचन दूसरे प्रमाणोंसे अज्ञात वस्तुका बोधन करते हैं। द्वैत तो सर्व साधारणको ज्ञात ही है।

पूर्वपक्षीका कहना है कि श्येनयाग और अहिंसा विधिका दृष्टान्त देकर जो प्रमाणके बाधका प्रतिपादन किया गया वह ठीक नहीं है। क्योंकि शत्रुमारण-रूप लौकिक फलकी प्राप्तिके लिए श्येनयागका विधान है। अहिंसा विधि अदृष्ट स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए है। दोनोंके अधिकारी व्यवस्थित हैं। वेद दोनोंकी अभीष्ट सिद्धिके लिए उपायमात्रका निर्देश करता है। अतः अहिंसा विधिके अधिकारीके लिए जब श्येनयागका विधान ही नहीं है तो बाधित होनेका क्या अर्थ है? अब लीजिये इस आक्षेपका समाधान। अद्वैत प्रमाण तत्त्वार्थ विषयक है। द्वैत प्रमाण अतत्त्वार्थ विषयक है। इसलिए दोनोंके अधिकारी व्यवस्थित हैं। अद्वैत ज्ञानका अधिकारी है मुक्त या मुक्तिका इच्छुक। द्वैतज्ञानका अधिकारी है देहाभिमानी बद्ध विषयी पुरुष। अतः कर्मोंका विधान अविवेकी मनुष्यके लिए है और अद्वैत ज्ञान विद्वान्के प्रति है। उसके तो कर्मके सकल हेतु विध्वस्त हो गये हैं। जिसका अज्ञानान्धकार भली-भाँति निःशेष रूपसे निवृत्त हो गया है, वह अज्ञान दशाके समान कर्म नहीं कर सकता। क्योंकि कर्मका हेतु कर्तृत्व, विषयाध्यास आदि उसमें नहीं हैं। अतएव विवेकी पुरुष सर्वकर्मके त्यागका अधिकार प्राप्त कर लेता है।

विवेकी पुरुषके समान ही जिज्ञासुको भी कर्म-त्यागका अधिकार प्राप्त है क्योंकि वह भी तत्त्वज्ञ होना चाहता है। अभिप्राय यह है कि जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिए धर्मानुष्ठानकी अपेक्षा है, परन्तु उसकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्पत्ति हो जानेके बाद वह अधिकार निवृत्त हो जाता है। प्राप्त करना चाहे ज्ञान और यज्ञादि कर्ममें संलग्न रहे यह असंगत है। ज्ञान होगा श्रवण-मनन से। कर्ता, कर्म आदि कारक व्यवहार जिज्ञासाके उपकारक नहीं हैं। उनको रखते हुए शुद्ध वस्तुकी जिज्ञासा ही नहीं होगी। कर्ममें मन लगा रहेगा—यह किया, यह नहीं किया। गीतामें भी योगारूढ़ पुरुषके लिए शमरूप कर्मत्याग और जिज्ञासुके लिए शब्द ब्रह्मके अतिक्रमणका वर्णन है। यज्ञ, दान, तप, कर्मकी नित्य कर्तव्यता भी कर्मकी स्तुतिके लिए ही है। सिद्ध शुद्ध वस्तुमें कारकका व्यापार नहीं है। एक ही व्यक्तिमें एक साथ कारक बुद्धि और अकारक बुद्धि दोनोंका अवस्थान सम्भव नहीं है। मैं कर्ता हूँ, मैं कर्ता नहीं हूँ, यह दोनों निश्चय एक साथ कैसे हो सकता है? इनमें अन्धकार प्रकाशके समान विरोध है। यदि यह कहा जाये, जैसे एक ही मनुष्य क्रमशः चलता है और स्थिर होता है ऐसे ही कर्ता और अकर्ता क्रमसे हो सकता है। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि गति और स्थिति कर्ता पुरुषके अधीन है, कर्तृतन्त्र है। परन्तु आत्मज्ञान कूटस्थ-वस्तुके अधीन है। वह कर्ताकी इच्छा-के अनुसार नहीं होता, वस्तु स्वरूपके अनुसार होता है। एक बार निश्चय हो जाये कि अग्नि उष्ण है तो वह क्रमसे उष्ण और शीत दोनों नहीं हो सकता। क्योंकि फिर तो उसका स्वभाव कर्ताके अधीन हो जायेगा वास्तविक न रहेगा।

किसी-किसीका मत है कि परब्रह्म परमात्मामें भेद-अभेद दोनों हैं; कारण दशामें अभेद, कार्य दशामें भेद। अतः जिज्ञासुमें भी कभी ज्ञान, कभी कर्म रह सकता है। उन लोगोंका कहना है कि परमात्मासे ही आकाश, प्राण, मन, तेज आदिकी सृष्टि होती है। प्रकृति रूपमें भी वही है। सबकी उत्पत्ति और प्रलय उसीमें है। उसीके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान होता है, क्योंकि वही जगत्का उपादान और निमित्त दोनों है। वह सृष्टिके रूपमें परिणत होता है यह तो सत्य है परन्तु अपने स्वभाव से प्रच्युत नहीं होता। कंकण, कुण्डल, हार बननेपर भी सुवर्ण अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता। जगत्के रूपमें परिणत होनेपर भी ब्रह्म ब्रह्म ही रहता है। अपने स्वभावमें ब्रह्म अकारक है और परिणत रूपमें कारक है। अतएव कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों ही यथार्थ हैं। इस प्रकारके विचारमें दोष है। वह दोष क्या है? यह है कि भेद और अभेद दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं। भेदमें अभेद और अभेदमें भेद नहीं रहता। अश्व गायसे भिन्न है। गाय अश्वसे भिन्न है। यदि संसारमें यह भेद स्वीकार नहीं करेंगे तो बुद्धिका सर्वदाके लिए लोप हो जायेगा। भेद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और अभेद वस्तुतन्त्र हैं, बुद्धितन्त्र नहीं। हाँ, यह तो हो सकता है कि भेद कल्पित हो और अभेद वास्तविक। दोनोंके वास्तविक होनेपर भेदका निषेध नहीं हो सकता। अतः परमात्माका स्वरूप भेदाभेदसे विलक्षण है।

वस्तुतः परमतत्त्व, अज्ञान, उससे होनेवाले कर्म, भोग, भोग योग्य आकार आदिसे सर्वथा रहित है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। उसमें न क्रिया है न कारक। वह ऐसा आनन्द है जिसमें भोक्ता, भोग्यका भेद नहीं है। उसमें विशेषण और परिवर्तन भी नहीं है। उसके लिए किसी करण, कर्म और सामग्रीकी अपेक्षा नहीं है। वही अपना श्रुतिसिद्ध स्वरूप है। निश्चय ही ऐसा आनन्द कर्मसे प्राप्त नहीं हो सकता। कर्मका फल विनाशी होता है। उसमें बाहरके साधन एवं अनेक कारकोंकी अपेक्षा होती है। जो इस बातको जान लेता है वह हँसी खेलमें भी इस कर्मजन्य आनन्दकी ओर अपना संकल्प नहीं दौड़ाता। बुद्धिमान् पथिकको जब यह ज्ञात हो गया कि इस पथपर चलनेमें जल एवं पथ्य-भोजनकी सुविधा है, किसी प्रकार के अनर्थका भय नहीं है, तब वह उस मार्गको छोड़कर निर्जल निर्भोजन और सोपद्रव मार्गसे यात्रा क्यों करेगा? संसारसे विरक्त जिज्ञासु-के लिए ज्ञानसे अन्य साधनकी कोई अपेक्षा नहीं होती। वस्तुतः बात यह है कि जहाँ साध्य वस्तुकी अर्थात् साधनसे निर्मित वस्तुकी आवश्यकता होती है वहाँ कर्मकी अपेक्षा होती है। जो सिद्ध वस्तु होती है वह कर्मसाध्य नहीं होती किन्तु प्रमाणवेद्य होती है। कर्म प्रमाण नहीं है।

यह निश्चय है कि जो वस्तु अज्ञात होती है उसीके ज्ञानके लिए प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। आत्माकी अद्वितीयता अज्ञात है। अतएव वेदान्त प्रमाणके द्वारा वही प्रमेय है। भेद तो प्रमा-णान्तरसे ज्ञात है ही। उसके प्रति-पादनमें वेदान्तकी क्या अपूर्वता है? भेद आबालवृद्ध सबको अपने मन इन्द्रियोंसे सिद्ध हो रहा है। उसका वर्णन अनुवादमात्र हो जायेगा। भेद अपने अभावके अधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्ममें प्रतीत होनेके कारण मिथ्या है। मिथ्याके प्रतिपादनमें वेदका तात्पर्य नहीं हो सकता। भेदके ज्ञानसे सकल अनर्थ निवृत्तिपूर्वक परमानन्द प्राप्ति-रूप प्रयोजन अर्थात् मोक्षकी सिद्धि भी नहीं हो सकती। श्रुतियाँ भेदका विरोध करती हैं। अतः वह वेदान्तका अभिप्रेत अर्थ नहीं हो सकता। एक ही वस्तुमें भेद और अभेद दोनोंका होना सम्भव नहीं है। अतएव वेदान्तका प्रतिपाद्य आत्मा ब्रह्मको एकताका सिद्ध बोध ही है।

अब एक दूसरा प्रश्न लीजिये ब्रह्म अविद्यायुक्त है कि नहीं? अर्थात् अविद्या ब्रह्माश्रित है क्या? यह तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक बड़ा द ष है जैसे सूर्यमें अन्धकार-की कल्पना असम्भव है वैसे ही ज्ञान-स्वभाव सर्वज्ञ ब्रह्ममें अविद्याकी स्थिति वदतोव्याघात दोषसे आक्रान्त है। मान लें ब्रह्ममें अविद्या नहीं है, जीवमें है तो जीव क्या ब्रह्मसे भिन्न है? इसलिए उसमें भी अविद्याको कल्पना अयुक्त है। यदि अविद्याको स्वतन्त्र माना जाये तो जैसे स्वतन्त्र ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त नहीं होता वैसे ही अविद्या भी निवृत्त नहीं होगी और इस प्रकार ब्रह्मविद्याका कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा।

पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर लीजिये। आकाशमें सूर्य चमकता है। बालक समझता है कि सूर्य मेघसे ढँक जाता है, जानकार समझता है कि मेघसे सूर्य नहीं ढँकता। आकाश भले ही मेघाच्छन्न हो परन्तु आकाश या सूर्यसे मेघका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्ममें अविद्याका कल्पित सम्बन्ध है। अविवेकी समझता है ब्रह्ममें अविद्या है, विवेकी समझता है कि ब्रह्ममें अविद्या नहीं है। सूर्यमें मेघके समान ब्रह्ममें अविद्या कल्पित है। सूर्यकी निर्मेघताके समान ब्रह्मका अविद्या-साहित्य वास्तविक है। इसीको दृष्टिभेद कहते हैं। तत्त्व दृष्टिसे अविद्या नहीं है, अतत्त्व दृष्टिसे अविद्या है। इसमें विचार दृष्टि और अविचार दृष्टि-का ही अन्तर है वस्तुतः ब्रह्म नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त ही है।

पूर्वपक्षी यहाँ आक्षेप करता है कि तुम्हारी अविद्या प्रमाण-सिद्ध है अथवा नहीं। यदि प्रमाण सिद्ध है तो प्रमाणसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि अविद्याके होनेमें कोई प्रमाण ही नहीं है तो उसको सिद्ध कैसे किया जा सकता है। इस आक्षेप-का समाधान यह है कि अविद्या प्रमाण-वेद्य नहीं है। साक्षिवेद्य है। अविद्यामें बैठकर ही ब्रह्ममें अविद्या है यह कल्पना की जाती है। जब ब्रह्मसे एकताका बोध हो जाता है तब ब्रह्मात्म दृष्टिसे अविद्याकी सिद्धि नहीं होती है। अविद्या कल्पित है, ब्रह्म और अविद्या-का सम्बन्ध भी कल्पित है, पहले प्रश्नमें यह कहा गया था कि ब्रह्मवस्तु अविद्याका आश्रय नहीं हो सकती, अयोग्य आश्रयमें अविद्याकी कल्पना की गयी है। दूसरे आक्षेपमें प्रमाणपर आक्षेप किया गया है, अविद्यामें कोई प्रमाण नहीं हो सकता। ब्रह्ममें अविद्या कल्पित है और साक्षीके द्वारा वेद्य है, यह कहकर दोनोंका समाधान किया गया है।

अविद्यामें साक्षी ही प्रमाण है, इसका अभिप्राय क्या है? यह सभीको मान्य है कि मैं नहीं जानता हूँ—ऐसी प्रतीति सबको होती है। न जाननेका अर्थ क्या है? ज्ञानके अभावको जानना? यह ठीक नहीं है क्योंकि किसी भी पदार्थके अभावका ज्ञान तब होता है जब उसके प्रतियोगी और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिकरणका ज्ञान हो। जैसे घड़ा नहीं है इसका ज्ञान किसको होगा? जिसको पहलेसे घड़ेका ज्ञान हो। कहाँ नहीं है? जहाँ पहले था। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि ज्ञान और आत्मा नहीं है तो 'मैं नहीं जानता' यह प्रतीति हो ही नहीं सकती। एक ही समय एक ही अधिकरणमें ज्ञान और ज्ञानाभाव दोनोंकी प्रतीति नहीं हो सकती। मैं नहीं जानता—यह भी तो एक ज्ञान ही है। ज्ञान और ज्ञानाभाव दोनों साक्षीको प्रतीत हो रहे हैं। इसलिए उसे साक्षिवेद्य मानना चाहिए। चिदात्मा अज्ञान और इनका सम्बन्ध, इनपर विचार कीजिये। मुझमें ज्ञानाभाव है, यह ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि यह ज्ञान भी ज्ञान ही है, तब ज्ञानका अभाव कहाँ हुआ? अतः अज्ञान साक्षीका ही विषय है।

शङ्का यह है कि ज्ञान अज्ञानको परस्पर विरोधी तो अद्वैती भी मानते ही हैं। यदि न मानें तो ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी। तो जो ज्ञानाधिकरण है वही ज्ञानाभावका अधिकरण भी हुआ, फिर अज्ञानकी प्रतीति कैसे होगी? इस शङ्काका समाधान यह है कि अज्ञानका विरोधी प्रमाणजन्य ज्ञान है, ज्ञानस्वरूप साक्षी नहीं। वह तो भ्रम और प्रमा दोनोंका ही साक्षी है। ज्ञात और अज्ञातके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह सब साक्षी चैतन्यका ही विषय है। वह अज्ञानको नहीं मिटाता, प्रकाशता है। प्रमाणजन्य ज्ञान अज्ञानको मिटा देता है।

(सावशेष)

भगवत्कृपासे अनुभव

कार्य और कारण में अभेद माना गया है; जैसे सुवर्ण और आभूषण कहनेके लिए भले ही भिन्न हों, किन्तु वस्तुतः एक और अभिन्न ही हैं। वास्तवमें तो सुवर्ण ही आभूषण है। इसी प्रकार सर्वत्र कारण ही कार्य होता है। ससारकी उत्पत्ति ईश्वरसे हुई है। अतः ईश्वर कारण और संसार कार्य है। ये कहनेके लिए ही दो हैं; वास्तवमें तो ईश्वर ही जगत् है। ईश्वरसे भिन्न जगत् कुछ भी नहीं है। परन्तु यह बात भगवत्कृपासे ही अनुभवमें आती है।

—श्री उड़िया बाबा जी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाल्मीकि रामायण : शरणागति

डा. वि. कृष्णस्वामी अय्यंगार [रीडर : केन्द्रीय हिन्दी संस्थान : आगरा]

(१३/२ से अनुवृत्त)

शरणागतिका चतुर्थ अंग है गोप्तृत्ववरण। 'गुप्' धातुका अर्थ है रक्षण। रक्षकको 'गोप्ता' कहते हैं। गोप्ताके रूपमें परमात्माका वरण करना यानी परमात्मासे आत्मरक्षीका प्रार्थना करना ही गोप्तृत्ववरण है। हमारा कर्तव्य इतना ही है कि हम रक्षाकी प्रार्थना करें। ऐसी प्रार्थना कभी अस्वीकृत नहीं होती। हमारी ओरसे प्रार्थना करनेमें विलम्ब हो रहा है, हम अब भी ईश्वरमें या उसके रक्षकत्वमें पूर्ण विश्वास नहीं कर पा रहे हैं। ईश्वरकी ओरसे रक्षा करनेमें कोई विलम्ब नहीं होता। श्रीवेदान्तदेशिक कहते हैं कि शरणागतिके द्वारा इस 'रक्षापेक्षा प्रतीक्षण विलम्ब' को समाप्त किया जा सकता है। इसीलिए कहा गया है कि परमात्मा केवल प्रपन्नको ही परमपद प्रदान करते हैं—

प्रपन्नादन्येषां न दिशति मुकुन्दो निजपदम्।

प्रपत्तिका पाँचवाँ अंग है कार्पण्य। कार्पण्यका अर्थ है अशक्ति, असामर्थ्य अथवा अयोग्यता। अयोग्यताको प्रपत्तिके लिए एक अनिवार्य योग्यताके रूपमें स्वीकार किया गया है। इसका रहस्य क्या है? जो व्यक्ति समझता है कि मैं स्वयं किसी उपायसे अपनी रक्षा कर सकता हूँ, वह प्रपत्तिका अधिकारी नहीं है। अपनी शक्तिपर विश्वास रखनेवाला अहंकारी शरणमें नहीं जा सकता और हम किस उपायसे या किस शक्तिसे अपनी रक्षा कर सकते हैं? जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि प्रबल शत्रुओंका सामना करनेके लिए हमारे पास कौन-सा साधन है? भवसागरको पार करनेका ऐसा कौन-सा उपाय है जो हमारी पहुँचके भीतर हो? श्रीआलवंदारने 'स्तोत्ररत्न'में हमें उपदेश देनेके लिए कहा है कि मैं सर्वथा अयोग्य हूँ। मैं धर्मका आचरण निष्ठाके साथ नहीं कर सकता। आत्मज्ञानसे तो कोसों दूर हूँ। भक्तिकी साधनामें भी अपनेको असमर्थ पा रहा हूँ। मुक्ति प्राप्त करनेके लिए मेरे पास किसी प्रकारकी अर्हता नहीं है। मैं अकिञ्चन हूँ। मेरे पास कोई उपाय नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। मैं गतिशून्य हूँ, असहाय हूँ, निरुपाय हूँ। अतः हे परमेश्वर, तुम्हारे चरणोंको ही शरण मानता हूँ—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमाँस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

यह उपायान्तर शून्यता-आकिञ्चन्य-कार्पण्य प्रपत्तिके लिए अनिवार्य है। स्वप्रवृत्ति, निवृत्तिके द्वारा ही हम परमात्माकी कृपाके पात्र बन सकते हैं।

विभीषणकी शरणागति इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। कुछ लोगोंकी धारणा है कि विभीषणने अपने भाई रावणका साथ छोड़कर जघन्य विश्वासघात किया। उनकी रायमें विभीषण एक स्वार्थी और क्षुद्र पुरुष था। बाल्यकालसे लेकर अन्ततक रावणने प्रेमसे इस अनुजका लालन-पालन किया। विभीषण रावणके लंकाराज्यमें पत्नी-पुत्रके साथ सुखपूर्वक जीवन बिता रहा था। रावणके पराक्रमसे विभीषणको सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। किन्तु जब भाईके जीवनमें घोर संकटका समय आया, तब विभीषणने भाईके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करनेके बजाय, अपने सुख व लाभके लिए भाईको छोड़ देनेका निर्णय लिया। यह भ्रातृ द्रोहका काम था। रावणको छोड़कर जाना ही एक पाप था, किन्तु विभीषण भाईके शत्रुसे जा मिला। रामके साथ मित्रता करके उसने रावणके वधमें सहायता पहुँचायी। विभीषणकी मददसे ही लक्ष्मणके द्वारा रावणके वीर पुत्र मेघनादका वध हो सका। विभीषण रावणके रहस्योंको जानता था। इसी कारणसे रामने कूटनीतिकी दृष्टिसे विभीषणको अपने पक्षमें सम्मिलित किया। शत्रुके पास जाकर सगे भाईके खिलाफ षड्यन्त्र करनेका एकमात्र उद्देश्य था लंका-राज्यपर अधिकार कर लेना। ऐसे स्वार्थ प्रेरित राजद्रोह तथा भ्रातृद्रोहके नीच कृत्यको 'शरणागति'का नाम देना अनुचित है। इस प्रकार कुछ विद्वान् विभीषणको द्रोही, नीच, स्वार्थी आदि कहकर निन्दा करते हैं। अतः इस प्रसंगमें यह विचार करना सर्वथा आवश्यक है कि विभीषणने रावणके साथ जो व्यवहार किया था, वह कहाँतक उचित था उसमें भ्रातृप्रेमकी झलक थी या नहीं? क्या विभीषणने राज्याधिकार पानेके लिए जान-बूझकर शत्रुका साथ दिया? रावणको छोड़कर रामकी शरणमें आनेका विभीषणका उद्देश्य क्या था?

उत्तर काण्डमें वाल्मीकिने बताया है कि रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण तीनों भाइयोंने कठोर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तपस्याके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न कर लिया, ब्रह्माने रावणको उसकी इच्छाके अनुरूप वरदान दिया। रावण और कुम्भकर्ण दोनों तामसी प्रकृतिके थे। उनकी तपस्याका लक्ष्य ही अपनी शक्तिकी वृद्धि करना तथा तीनों लोकोंको वशमें लाकर सुख प्राप्त करना था। यह तामस तपस्या थी। कुम्भकर्णको तो निद्राका वरदान मिला। रावणके प्रार्थना करनेपर ब्रह्माजीने यह अनुग्रह किया कि छः महीनोंमें एक बार वह जाग सकता है। बाकी सारा समय उसका तामसी निद्रामें बीतता था। रावणको त्रैलोक्य-विजयी होनेकी महत्त्वाकांक्षा थी। उसने अवध्यताका वरदान माँगा। उसको यही वरदान मिला कि देवता, यक्ष, राक्षस आदिसे उसका वध नहीं होगा। किन्तु रावणने तिरस्कारके कारण मनुष्य तथा वानरसे अवध्यत्व नहीं माँगा। वाल्मीकिने दिखाया है कि रावण पहलेसे ही स्वार्थके लिए शक्ति सञ्चय कर रहा था। वरदान पाकर उसने त्रैलोक्यपर आक्रमण किया। सर्वत्र उसका आतंक छा गया। उसका सामना करनेकी शक्ति किसी देवतामें नहीं थी। इन्द्र आदि देवता उसके अधीन हो गये। रावणको तपस्या इस प्रकार एक महान् लोक कण्टकका निर्माण करनेमें सफल हुई। रावणो लोकरावणः।

किन्तु विभीषणने तपस्या क्यों की थी और ब्रह्माजीसे क्या वरदान माँगा था? वाल्मीकिके अनुसार विभीषणने अपने स्वार्थके लिए या किसी भौतिक सुख-सुविधाके लिए तपस्या नहीं की थी। उनका विचार आत्मोद्धारका था। वे सदा धर्मके मार्गपर चलना चाहते थे। उन्होंने यही वरदान माँगा कि घोर विपत्तिके समयमें भी मेरा मन धर्मसे विचलित नहीं हो। वाल्मीकिके ये शब्द द्रष्टव्य हैं—

विभीषणमथोवाच
वाक्यं लोकपितामहः।
विभीषण त्वया वत्स
धर्मसंहितबुद्धिना।
परितुष्टोस्मि धर्मात्मन्
वरं वरय सुव्रत॥
विभीषणस्तु धर्मात्मा
वचनं प्राह साञ्जलिः।
वृतः सर्वगुणैर्नित्यं
चन्द्रमा रश्मिभिर्यथा॥
भगवन् कृतकृत्योहं
यन्मे लोकगुरुः स्वयम्।
प्रीतेन यदि दातव्यो
वरो मे श्रृणु सुव्रत॥
परमापद्गतस्यापि
धर्मे मम मतिर्भवेत्।
अशिक्षितं च ब्रह्मास्त्रं
भगवन् प्रतिभातु मे॥
या या मे जायते बुद्धिः
येषु येष्वाश्रयेषु च।
सा सा भवतु धर्मिष्ठा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तं तु धर्मं च पालये ।।
एष मे परमोदार
वरः परमको मतः ।
न हि धर्माभिरक्तानां
लोके किञ्चन दुर्लभम् ।
पुनः प्रजापतिः प्रीतो
विभीषणमुवाच ह ।
धर्मिष्ठस्त्वं यथा वत्स
तथा चैतद्भविष्यति ।।
यस्माद् राक्षसयोनौ ते
जातस्यामित्रनाशन ।
नाधर्मे जायते बुद्धि-
रमरत्वं ददामि ते ।।

[वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड दशम सर्ग, श्लोक–२७–३५]

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि राक्षसकुलमें उत्पन्न होनेपर भी विभीषण अधर्मसे सदा दूर रहते थे—'नाधर्मे जायते बुद्धिः ।' धर्मका पालन दृढ़ताके साथ करना चाहते थे—'धर्मे मम मतिर्भवेत्' । उनका विश्वास था कि धर्मसे ही प्राणीका श्रेय हो सकता है। धर्मके मार्गपर चलनेवालेके लिए कोई लाभ दुर्लभ नहीं होता। अतः वे सम्पूर्ण जीवनमें धर्मकी साधना करनेकी इच्छा रखते थे। ब्रह्माजीने उनको यही वरदान दिया कि हर स्थितिमें धर्मका पालन करनेकी शक्ति तुम्हें प्राप्त हो।

धर्मका ज्ञान प्रायः सबको रहता है। शास्त्रोंका गम्भीर अध्ययन न करनेपर भी लोगोंको यह मालूम रहता है कि धर्म क्या है ? अधर्म क्या है ? किन्तु यह ज्ञान जब क्रियात्मक नहीं बनता, जब व्यक्तिमें अपने ज्ञानके अनुसार चलनेका साहस नहीं होता, तब ज्ञान केवल निरर्थक भार बन जाता है। आचरणसे शून्य ज्ञान अज्ञानसे बदतर है। कोई विद्वान् है, शास्त्रोंकी व्याख्या करता है; किन्तु स्वार्थके लोभमें पड़कर, जानते हुए भी, अन्यायका समर्थन करता है, न्यायकी उपेक्षा करता है और अत्याचारीका साथ देता है तो उसका ज्ञान निष्फल है और उसका आचरण गर्हणीय है। संसारमें ऐसे नपुंसक बड़ी संख्यामें हैं जो धर्मकी चर्चा तो जोर-शोरके साथ करते हैं किन्तु कभी अपने जीवनमें धर्मको उतारनेकी कल्पना भी नहीं करते। ऐसे कायर लाखोंकी तादादमें मिल सकते हैं जो अपने पदकी रक्षाके लिए अन्यायीके अन्यायका विरोध न करके मूक साक्षी बने रहते हैं। ये लोग धर्मकी रक्षा नहीं कर सकते। विभीषण ऐसे कायर या नपुंसक नहीं थे। उनमें धर्मके अनुसार चलनेका साहस था। धर्मकी रक्षाके लिए बलिदान देना हो तो वे तैयार थे। दुःखकी चिन्तासे डरकर अधर्मका स्वागत करनेवाले नहीं थे, अपितु धर्मकी रक्षाके लिए दुःखका स्वागत करनेको तैयार थे। ऐसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साहसीको हम चाहें तो 'विद्रोही' कह सकते हैं, किन्तु उन्हें 'द्रोही' कहना बिलकुल गलत है।

यह बात सही है कि रावणने ज्येष्ठ भ्राता होनेके कारण विभीषण-का पालन किया। विभीषणने भी सदा रावणका साथ दिया। कई प्रसंगोंमें विभीषणने भाईको नेक सलाह देकर धर्मके मार्गपर चलाया है। जब हनुमान बन्धनमें पड़े थे और रावणने उनकी हत्याका आदेश निकालनेका विचार किया तब विभीषणने ही धर्म और नीतिकी दुहाई देकर 'दूतवध'को रोकनेका प्रयास किया था। दण्ड देनेके लिए लांगूलमें आग लगानेका आदेश तब रावणने दिया था। विभीषणने धर्म-की बात कही और रावणने स्वीकार की—यही इस प्रसगकी विशेषता है। विभीषणका यह व्यवहार उनके भ्रातृप्रेमका ही द्योतक है। वरना, वे तटस्थ भावसे मौन रह सकते थे। यदि रावण अपनी मूर्खतासे विपत्ति-का स्वागत करता है तो करने दें; हम क्यों बीचमें पड़कर विरोधकी बातें करें? ऐसी उदासीनताकी नीति अपना सकते थे। किन्तु वे दिलसे भाईकी भलाई चाहते थे। अतः जब उचित समय मिला तब उन्होंने रावण-को कर्तव्यका मार्ग बताया।

कुछ विद्वानोंका आक्षेप है कि विभीषण यदि ऐसे धर्मात्मा थे तो उन्होंने पहले ही रावणको सीता-पहरणके खिलाफ सलाह क्यों नहीं दी? लंका-दहन तक वे मौन क्यों रहे? लेकिन, ऐसा आक्षेप उभरनेसे पहले इस बातपर ध्यान देना जरूरी है कि रावणने सीतापहरणके समय किसीसे परामर्श नहीं किया था। विभीषणको यह मालूम नहीं था कि रावण सीताजीको अपहरण करके लानेवाला है। ऐसी स्थितिमें वे सलाह क्या दे सकते थे? वाल्मीकिने लिखा है कि रावण सीतापहरणके कार्यमें सहायता लेनेके लिए मारीच-के पास गया। मारीचने उसे राम-का परिचय देकर सलाह दी कि तुम यह दुर्विचार छोड़ दो। राम-जैसे महावीरसे दुश्मनी मोल लेना विवेक-का काम नहीं है। किन्तु रावणने मारीचकी सलाह ठुकरा दी। उसे धमकाया कि रामके पास जाकर भी भाग्य रहा तो तुम बच सकोगे; मेरा काम नहीं करोगे तो अभी तुम्हारा नाश होना निश्चत है। इसका निष्कर्ष है कि रावण उस समय किसीकी बात माननेकी स्थितिमें नहीं था। वह एक निर्णय ले चुका था। कोई उसे उस निर्णयसे विचलित नहीं कर सकता था। कुम्भकर्णको भी सीता-पहरणके विषयमें पहले कोई सूचना नहीं थी। लंकादहनके बाद जब रावणने रामके भावी आक्रमणसे चिन्तित होकर आपातकालीन सभा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुलायी तभी कुम्भकर्णको यह सूचना मिली थी। कुम्भकर्णने रावणकी आलोचना करते हुए कहा था कि सीतापहरण करनेसे पूर्व तुम्हें उसके सम्भावित परिणामोंपर विचार करके हमारी सलाह लेनी थी; तब तो तुमने अपनी इच्छानुसार अविवेकका काम किया और अब पछतानेसे क्या लाभ है ? कुम्भकर्णके शब्द हैं—

सर्वमेतन् महाराज
कृतमप्रतिमं तव।
विधीयेत सहास्माभि-
रादावेवास्य कर्मणः॥
न्यायेन राजकार्याणि
यः करोति दशानन।
न स संतप्यते पश्चात्
निश्चितार्थमतिर्नृपः॥
अनुपायेन कर्माणि
विपरीतानि यानि च।
क्रियमाणानि दुष्यन्ति
हवींष्यप्रयतेष्विव॥
यः पश्चात् पूर्वकार्याणि
कर्माण्यभिचिकीर्षति।
पूर्वं चापरकार्याणि,
न स वेद नयानयौ॥
[युद्धकाण्ड, सर्ग—१२
श्लोक ३०—३३]

कुम्भकर्णके मुँहसे ऐसी आलोचना सुनकर रावणको बड़ा क्रोध आया। तो स्पष्ट है कि सीतापहरणसे पूर्व रावणने विभीषणसे इस विषयकी चर्चा नहीं की। अतः तब कोई सलाह देना सम्भव नहीं था। जब सभा बुलाकर लोगोंसे अपने विचार व्यक्त करने-को कहा गया, तब तो विभीषणने किसी प्रकारका भय या सङ्कोच न दिखाते हुए अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें अपना मत प्रकट किया। अन्य राक्षसोंके समान चापलूसी नहीं की, भयके कारण 'हाँ' में 'हाँ' मिलानेकी चेष्टा नहीं की। किन्तु निर्भीक होकर अपने विचार प्रस्तुत किये।

कुम्भकर्ण और विभीषणमें एक मौलिक अन्तर है। यह सही है कि दोनों भाइयोंने रावणका विरोध किया। किन्तु कुम्भकर्णका विरोध सैद्धान्तिक या धार्मिक स्तर पर नहीं था। उसका तो यही कहना था कि कोई निर्णय लेनेसे पहले हमसे पूछा क्यों नहीं ? जब संकट-में पड़ते हो तब हमारी सलाह माँगते हो। पहले पूछा होता तो हम ऐसा उपाय बताते जिससे यह संकट ही नहीं आता। कुम्भकर्णका विरोध केवल इस तरहकी 'राजनीति'-के स्तरका था। उसने कभी यह नहीं कहा कि पर-स्त्रीहरण एक घोर पाप है। इसके विपरीत उसने भाई-को अभयका आश्वासन देकर कहा कि तुम रामकी चिन्ता मत करो। तुम्हारे शत्रुका वध करना मेरा भार है। मुझपर यह भार छोड़कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुम आरामसे सीताको वशमें करनेका उपाय सोचो। यह है कुम्भकर्णकी नीति! उसने रावण-को बताया—

तस्मात् त्वया समारब्धं
कर्मंह्यप्रतिमं परैः।
अहं समीकरिष्यामि
हत्वा शत्रूंस्तवानघ॥
रमस्व कामं पिब चाग्रजवारुणीं
कुरुष्व कार्याणि हितानि विज्वरः।
मया तु रामे गमिते यमक्षयं
चिराय सीता वशगा भविष्यति॥
[युद्धकाण्ड, सर्ग-१२, श्लोक ३६,४१]

कुम्भकर्णका विचार था कि रावणकी गलतीको मैं अपने पराक्रमसे ठीक कर सकता हूँ। उसके मनमें धर्म और अधर्मका सवाल ही नहीं था। मैं शक्तिशाली हूँ। मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ। मेरी इच्छाके खिलाफ चलकर इस संसारमें कोई बच नहीं सकता। यह तामस अहंकार कुम्भकर्णके मनमें समाया हुआ है।

विभीषणके विचार इसके सर्वथा प्रतिकूल थे। उनका स्पष्ट कथन था कि परस्त्रीको हरण करके लाना तथा उसे बन्दी बनाकर रखना धर्म और नीतिकी दृष्टिसे एक घोर अपराध है। उन्होंने रावणके हितैषी होकर सलाह दी कि सीताजी-को आदरपूर्वक लौटा दो और राम-के साथ मित्रता कर लो। उन्होंने यह धमकी भी दी कि धर्मकी उपेक्षा करके हठवादितासे सीता-को कैदमें रखोगे तो राम-बाणोंके शिकार बनोगे। तुम्हारी मृत्यु होगी और राक्षस-कुलका सर्वनाश होगा। अतः आत्मरक्षाकी दृष्टिसे रामके साथ मैत्री करना उचित है। विभीषणके शब्द हैं—

को ब्रह्मदण्ड प्रतिमप्रकाशा-
नर्चिष्यतः कालनिकाशरूपान्।
सहेत बाणान् यमदण्डकल्पान्
समक्षमुक्तान् युधि राघवेण॥
धनानि रत्नानि विभूषणानि
वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्।
सीतां च रामाय निवेद्य देवीं
वसेम राजन्निह वीत शोकाः॥
[युद्धकाण्ड, सर्ग-१५, श्लोक १३-१४]

रावणकी सभामें इन्द्रजीतने विभीषणका अपमान किया था। उसने अपने चाचाको कायर और कापुरुष कहकर निन्दा की। इन्द्रजीतके विषाक्त शब्दबाण ऐसे थे—

सत्त्वेन वीर्येण पराक्रमेण
शौर्येण धैर्येण च तेजसा च।
एकः कुलेऽस्मिन् पुरुषो विमुक्तो
विभीषणस्तात कनिष्ठ एषः॥
[वही, सर्ग—१५, श्लोक—३]

विभीषणने इस उपहासको भी सहा। किन्तु वे धर्मके मार्गसे विचलित नहीं हुए। उन्होंने रावण-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को कई प्रकारसे कई बार समझाने-की चेष्टा की थी ? रावणके अन्तःपुरमें प्रभातकालमें जाकर एकान्तमें भाईको हितोपदेश दिया। किन्तु दुर्भाग्यसे रावणने उनके उपदेशको स्वीकार नहीं किया। उसने तो यहाँ तक कहा कि जाति (भाई आदि रिश्तेदार) स्वार्थके कारण द्रोहका काम भी कर सकते हैं। उसका स्पष्ट संकेत था कि तुम मेरा उत्कर्ष देख-कर मन ही मन जलते हो; ईर्ष्यासे मेरा अहित करना चाहते हो। रावण ने कहा—

विद्यते गोषु संपन्नं
विद्यते ब्राह्मणे दमः।
विद्यते स्त्रीषु चापल्यं
विद्यते ज्ञातितो भयम् ॥
अन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद्
वाक्यमेतत् निशाचर।
अस्मिन् मुहूर्ते न भवेत्
त्वां तु धिक् कुलपांसनम् ॥

[वही, सर्ग—१७, श्लोक—९, १७]

विभीषणकी हितोक्तिको इस प्रकार रावणने शंका की दृष्टिसे देखा। अपने हितैषी भ्राताको प्रच्छन्न वैरी समझकर उसका घोर अपमान किया। अबतक विभीषणने भ्राताका कर्तव्य निवाहा। अब उनके सामने समस्या थी कि रावणके साथ रह-कर उसके अधर्ममें भागी होना चाहिए या उसका साथ छोड़कर धर्म-का पालन करना चाहिए। वास्तवमें यह विभीषणके लिए धर्मसंकटका समय था। रावणके साथ रहनेका अर्थ होता उसके हर प्रकारके अधर्मा-चरणमें स्वयं भी भागी होना। महाभारतमें भीष्म, द्रोण आदिने अन्ततक दुर्योधनका साथ दिया। उन्होंने दुर्योधनको त्यागकर पाण्डवों-के पक्षमें सम्मिलित होनेका साहस नहीं किया। उनकी समस्त शक्ति अधर्मके समर्थनमें लगी हुई थी। किन्तु प्रह्लादने धर्मके लिए पिताका भी विरोध किया। पितृभक्ति एक सामान्य धर्म है; किन्तु ईश्वरभक्तिके सामने उस धर्मका कोई मूल्य नहीं है। पिता या भ्राता-की सेवा करना धर्म है; परन्तु जब पिता या भ्राता पापी है, चोर या हत्यारा है, तब भी क्या उसकी सहा-यता करना ही धर्म होता है ? वाल्मीकिने बालकाण्डमें दशरथके मन्त्रियोंका वर्णन करते हुए लिखा है कि यदि उनके पुत्र भी अपराधी हों तो वे दण्ड देनेमें कभी आगा-पीछा नहीं करते—

प्राप्तकालं तु ते दण्डं
धारयेयुः सुतेष्वपि।

कुछ लोग कौटुम्बिक प्रेम या मोहके कारण धर्मका त्याग करते हैं। विभीषणने धर्मकी रक्षाके लिए भाईका त्याग किया। वे अच्छी तरह जानते थे कि रावणका विरोध करनेका परिणाम भयंकर होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लंकामें उनकी पत्नी तथा पुत्र आदि-पर रावण अत्याचार कर सकता है। पत्नी-पुत्र आदिको लंकासे हटाकर किसी सुरक्षित स्थानमें ले जानेके लिए न समय था, न सुविधा। किन्तु विभीषणने निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो, मैं भयभीत होकर स्वार्थकी रक्षाके लिए धर्मकी उपेक्षा नहीं करूँगा। विभीषणने इस प्रकार नैतिक साहसका परिचय दिया। वे रावणको छोड़कर रामके पास आये—

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं
रावणं रावणानुजः।
आजगाम मुहूर्तेन
यत्र रामः सलक्ष्मणः॥

[युद्धकाण्ड, सर्ग–१७, छन्द–१]

विभीषणने सुग्रीव आदि वानर वीरोंको अपना पूरा परिचय देकर उनसे प्रार्थना की कि सर्वलोकको रक्षा करनेवाले श्रीरामके पास मेरे विषयमें निवेदन कीजिये। आपकी मध्यस्थतासे ही मैं रामकी कृपाका पात्र बनूंगा। विभीषणने स्पष्ट कर दिया कि मैंने रावणको रामसे मिलानेकी भरसक चेष्टा की, किन्तु उसने मेरी बातपर जरा भी ध्यान नहीं दिया। अब अन्य किसी प्रकार-के उपायके अभावमें मैं रामकी शरणमे आया हूं। उन्होंने कहा—

स च न प्रतिजग्राह
रावणः कालचोदितः।
उच्यमानं हितं वाक्यम्
विपरीत इवौषधम्॥
सोहं परुषितस्तेन
दासवच्चावमानितः।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च
राघवं शरणं गतः॥
सर्वलोकशरण्याय
राघवाय महात्मने।
निवेदयत मां क्षिप्रं
विभीषणमुपस्थितम्॥

[वही, सर्ग–१७, श्लोक १५–१७]

रावणके साथ रहते हुए भी विभीषण-ने रामपत्नी सीताको वापस कर देने-की सलाह दी। यह धर्मानुकूल प्रवृत्ति थी। इसे 'आनुकूल्यसंकल्प'का नाम दे सकते हैं। रावणने जब यह सलाह नहीं मानी, तब विभीषण उसका परित्याग करके रामके पास आये—यह हुआ 'प्रातिकूल्यवर्जन'। रामको रक्षकके रूपमें वरण किया—'राघवं शरणं गतः।' यह है 'गोप्तृ-त्ववरण'। इस वरणके पीछे उनका पक्का विश्वास था कि प्रार्थना करने-पर राम मेरी रक्षा अवश्य करेंगे। यह था 'महाविश्वास'। अपने आप-को रामके हाथोंमें सौंप देना ही 'आत्मनिक्षेप' है। प्रपत्तिका एक अंग 'कार्पण्य' यानी आकिञ्चन्य है। 'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च।' सबका परित्याग करके एकमात्र रामकी शरणमें आनेके द्वारा उपायान्तर निषेधकी भी व्यञ्जना की गयी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः स्पष्ट है कि विभीषणकी शरणागति सर्वांग परिपूर्ण है।

'अभयप्रदानसार'में श्रीवेदान्त देशिकने वाल्मीकिरामायणमें वर्णित शरणागतिका इस प्रकार निरूपण किया है। वास्तवमें वाल्मीकि रामायण 'शरणागतिवेद' ही है। वेद तथा वेदान्तमें विश्वास रखनेवाले सभी आस्तिक आचार्य शरणागतिको स्वीकार करते हैं। अतएव गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि जब तुम किसी धर्मका—मुक्तिके उपायका—अनुष्ठान नहीं कर सकते; तब उस धर्मके स्थानपर मुझे ही उपायके रूपमें वरण कर लो। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' भगवान्‌को 'सिद्धोपाय' कहते हैं। महर्षि वाल्मीकिने इस तथ्य का अपनी छन्दोमयी वाणीमें सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन किया है।

भक्तोंके कुछ लक्षण

व्रज में मुझे एक महात्मा मिले थे। उन्होंने मुझे भक्तों के कुछ लक्षण बतलाये थे, जिन्हें मैंने उड़िया लिपि में अपनी डायरी में लिख लिया था। वे लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) सबसे दीन भाव से बर्ताव करना।
(२) निष्कपटता का व्यवहार होना।
(३) सत्य भाषण करना।
(४) सब चराचर जगत् का आधार भगवान् को समझना।
(५) भगवान् को तन, मन, धन सब अर्पण करना।
(६) भगवान् को पूर्ण श्रद्धेय समझना।
(७) हमेशा भगवान् के अधीन रहना।
(८) भगवान् को आराध्यदेव समझना।
(९) अनन्य भाव से श्री भगवान् का चिन्तन करना।
(१०) अपने स्वरूप को कभी न भूलना।

—श्री उड़िया बाबा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री आदित्य विक्रम विरला द्वारा आयोजित विरला क्रीडा केन्द्र : बम्बईमें

गीताका दैनिक जीवनमें उपयोग

प्रवचन : अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन : श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रजेठी

गीताके बारेमें पहले कुछ थोड़ी-सी बातें ध्यानमें लेने योग्य हैं। लोगोंके मनमें ऐसा भ्रम होता है, यह बात बैठ जाती है कि यह तो पहाड़ोंकी चीज है, नदियोंके तटकी चीज है, एकान्तकी चीज है। वेद, उपनिषद् बड़े-बड़े दर्शन शास्त्र, ऋषियोंने कही जंगलोंमें, पहाड़ोंमें, नदियोंके तटपर एकान्तमें। गीताने पहले इस भ्रमपर ही चोट किया—वह युद्धभूमिमें प्रकट हुई। यह एक बहुत बड़ी क्रान्ति है। शान्ति और सुख हिमालयकी गुहाओंमें या घोर वन-प्रान्तोंमें या नदियोंके तट पर ही रहता हो, सो बात नहीं है। वह अत्यन्त कोलाहलमें जहाँ पक्ष-विपक्षकी सेनाएँ शस्त्र चलानेको तैयार हैं प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते वहाँ भी यह सुख, शान्तिका मूल गीता प्रकट हो सकती है। तो सुख, शान्ति ढूँढ़ने वनमें जाना पड़ेगा या साधु होना पड़ेगा यह भ्रम अपने मनसे निकल जाना चाहिए।

अच्छा, जब हम ध्यान लगायेंगे, समाधिमें बैठेंगे, तब हमको ज्ञान होगा—गीता इस बातको भी काटती है। न तो अर्जुन ध्यानमें बैठे हैं न तो समाधि लगा रहे हैं, वे तो रथपर बैठे हैं।

अब एक दूसरी बातपर ध्यान दीजिये। अर्जुनके जीवनमें सचमुच एक समस्या है और वह समस्या प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें आती है और आ सकती है। हम जीवनमें संघर्ष करें, युद्ध करें या जीवनके संघर्षको छोड़कर भाग जायें पलायन-वादी बन जायें—श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीहलोके अर्जुन कहते हैं अच्छा होगा कि मैं भीख माँगकर अपना जीवन व्यतीत करूँ परन्तु इस लड़ाई-झगड़ेके काममें न पड़ूँ। तो यह समस्या सभीके जीवनमें आती है कि हम अपने कर्तव्यका पालन करें या कर्तव्यका पालन छोड़कर भाग जायें। गीता माने शास्त्र नहीं, गीता माने कोई दर्शनशास्त्र या वेदान्तशास्त्र नहीं, गीता माने दो मित्रोंकी बातचीत। श्रीकृष्णार्जुन-संवादे गीतामें गीताको संवादरूपसे बताया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है जैसे दो मित्र आपसमें बातचीत कर रहे हों। पहली बात देखिये आप, रोज-रोजकी बात है। सेना दुर्योधन-के सामने भी है और सेना अर्जुनके सामने भी है। दुर्योधन सेना देखते हैं और देखकर अपने गुरु, द्रोणाचार्य तकको यह आज्ञा दे देते हैं कि युद्ध प्रारम्भ कीजिये और भीष्मपितामह हमारे सेनापति हैं, आप सब लोग उनकी रक्षा कीजिये उनकी आज्ञाके पालनमें लग जाइये। दुर्योधन बिना सोचे-विचारे सामने सेना देखकर युद्धका आदेश दे देता है। परन्तु अर्जुन सेना देखकर युद्धका आदेश नहीं देते, बल्कि दोनोंके बीचमें, समत्व-में, मध्यमें स्थित होते हैं। एक ओर कौरवोंकी सेना, एक ओर पाण्डवोंकी सेना, बीचमें अर्जुनका रथ। वहाँ खड़े हःकर पहले समान दृष्टिसे दोनोंको देखते हैं—कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे। इस युद्धभूमिमें मुझे किनके साथ लड़ना है? यह साधारण-सी बात लगती है परन्तु आपको अपने दैनिक जीवनमें कोई भी काम करना हो प्रातःकाल, मध्याह्नमें, सायंकाल, घरमें, व्यापारमें तो पहले विवेक करके विचारपूर्वक काम करना चाहिए। अर्जुन बिना विचारे युद्धकी आज्ञा नहीं देते या युद्धमें प्रवृत्त नहीं होते, सोच-विचार-कर समझ-बूझकर जो बात अपनी समझमें नहीं आती वह अपने हितैषी-से पूछकर समझते हैं। यह आपके लिए रोजकी बात है, आपकी समझमें आवे, आप सोच-समझ लें, विचार कर लें, विवेक कर लें तब करें, बिना विचारे कोई काम नहीं करें। एक बातपर आप ध्यान दें। श्रीकृष्ण अर्जुनसे बड़े हैं, सब तरहसे बड़े हैं। परन्तु देखो यहाँ बड़ेका काम, जो बड़े-से बड़ा है वह छोटे-से-छोटा काम करनेमें लगा हैं, संलग्न है। अर्जुन रथी हैं बड़ी जगहपर बैठे हैं और श्रीकृष्ण सारथिकी जगहपर। आप काम करते समय यह न देखें कि हम बड़े हैं तो इतना मामूली-सा काम क्यों करें? आप जिसका भला चाहते हैं तो उसका ड्राइवर भी बनना पड़े—आप धर्मकी रक्षा करना चाहते हैं, आपको सारथि बनना पड़े, तो वह उचित और उत्तम है। काममें कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता, वह उचित होना चाहिए, वह कर्त्तव्य होना चाहिए। आप झाड़ू लगानेको छोटा काम न समझें और वेदपाठको बहुत उत्तम काम न समझें। जिस समय आपका जो कर्त्तव्य हो, उसका बिलकुल ठीक-ठीक पालन करना चाहिए। इसकी परीक्षा हुई। परीक्षा कैसे हुई? अर्जुनने श्रीकृष्णको आज्ञा दे दी—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं-स्थापय मेऽच्युत—मेरे रथको आगे बढ़ाओ और दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा कर दो। आप जानते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होंगे वेदमें, पुराणमें, कुरानमें, बाइबिलमें ईश्वरका वर्णन है परन्तु आज्ञाकारी ईश्वर—जीव ईश्वरका आज्ञाकारी होता है, ईश्वर जीवका आज्ञाकारी नहीं होता परन्तु यहाँ ईश्वर अपना सारा बड़प्पन छोड़कर अर्जुनका आज्ञाकारी बनता है। हाँ भाई, अब हमने सारथिका पार्ट लिया है। सारथिका अभिनय करना है तो सारथिको रथीकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिए। श्रीकृष्णने सिद्ध कर दिया हमने जो अभिनय, जो पार्ट लिया है उसके अनुसार हम काम कर रहे हैं।

अब आप एक दृष्टि दुर्योधन और अर्जुनपर भी डालिये। दुर्योधन बिना विवेकके आज्ञा करता है—युद्ध करो मदर्थे त्यक्तजीविताः यह मेरे लिए मरनेके लिए सब लोग आये हैं, मरने-मारनेके लिए तैयार हैं। मुझे राज्य मिलेगा और ये लोग मरेंगे, यह दुर्योधनका ख्याल है। अर्जुनकी कल्पनापर आप ध्यान दें—येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च। त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च। किं नो राज्येन गोविन्द? अर्जुन कहते हैं हम राज्य, भोग, सुख अपने लिए नहीं चाहते; हम तो लोगोंके लिए चाहते हैं। अर्जुनके जीवनका उद्देश्य है लोकहित। दुर्योधनका उद्देश्य है स्वार्थ—स्वयंको राजा बनाना और अर्जुनका उद्देश्य है लोगोंका भला करना। और यह मत भूलिये कि लोगोंका भला करनेमें अपना भला हो जाता है और केवल अपना भला करनेमें लोग आपको स्वार्थीके रूपमें देखते हैं और आपका भला नहीं हो पाता, आप जो वस्तु बनाते हैं वह लोगोंके लिए उपयोगी है कि नहीं? जो काम करते हैं वह लोगोंके लिए आवश्यक है कि नहीं। लोकोपकारी है कि नहीं? क्या आप अपने लाभके लिए जीवनके कर्तव्य कर्म करते हैं या उसमें यह भी ध्यान रखते हैं कि इसमें समाज है, इसमें जाति है, इसमें मानवता है, इसमें ईश्वर है। अर्जुन और दुर्योधनमें यही अन्तर है कि अर्जुन सबका भला चाहते हैं और सबके भलेमें युधिष्ठिरका राज्य भी है, उनकी जीत भी है, भगवान् श्रीकृष्णके ज्ञानकी महिमा भी है और लोकहितकी दृष्टिसे अर्जुन सारा काम करते हैं। आप अपने जीवनके उद्देश्यमें जो सीमा है, जो परिच्छिन्नता है जो खण्डभावना है उसको मिटाके अपने जीवनको सबके लिए कर दीजिये। सबको भोजन मिलेगा आपको भी मिलेगा। सबको कपड़ा मिलेगा, आपको भी मिलेगा। सबको आवास मिलेगा आपको भी मिलेगा। लेकिन आप अपना मन छोटा मत कीजिये।

अभी मैं आपको सुनाता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीता कोई मजहबी किताब नहीं है। मजहबी किताबोंमें और गीतामें बहुत बड़ा फर्क है। एक भी मजहबी किताब दुनियाके पर्देपर ऐसी नहीं है जो बुद्धिकी महिमा स्वीकार करती हो। जितने धर्मग्रन्थ हैं चाहे वे किसी भी मजहबके क्यों न हों वे कहते हैं श्रद्धा करो, आचार्यपर श्रद्धा करो, पैगम्बरपर श्रद्धा करो। श्रद्धा करो, श्रद्धा करो, सब धर्म मानते हैं और गीता कहती है—बुद्धियोग-मुपाश्रित्य बुद्धियोगका आश्रय लो। आपका यह बात दुनियाके किसी ग्रन्थमें नहीं मिल सकती—बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः। बुद्धिकी शरण लीजिये। बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते यदि तुम बुद्धिसे सोच-विचारकर काम करोगे तो न तुम्हें पुण्य लगेगा न पाप लगेगा, दोनोंको चीरकर निकल जाओगे। यदि तुम बुद्धिसे—विवेकसे काम करोगे तो, कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः तुम्हें न सुख लगेगा न दुःख लगेगा, तुम दोनोंको चीरकर आगे निकल जाओगे। न तो सुख तुम्हें बाँध सकेगा न तो दुःख तुम्हें दीन हीन बना सकेगा, अपने बुद्धिको काममें लो। यदा ते मोहकलिलं बुद्धि-र्व्यतितरिष्यसि बुद्धिसे मोह मत करो, बुद्धिका आश्रय लो। यह दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है, गीता मजहबी किताब नहीं है। यह गीता सबकी भलाईके लिए पुस्तक है। इसकी पहचान है। दुनियामें चाहे कोई तमोगुणी हो, उसकी भी भलाई हो, जो रजोगुणी है उसकी भी भलाई हो। जो सत्त्वगुणी है उसकी भी भलाई हो। ईश्वरकी सब सन्तान हैं, ईश्वर सबको अपना समझता है। ईश्वरकी वाणी वही होती है जिसमें सबका भला हो, किसीका नुकसान न हो। और ईश्वर सबको जीवन देता है, सबको ज्ञान देता है, ईश्वर सबको आनन्द देता है। ईश्वरकी वाणी सबको जीवन देनेके लिए, सबको ज्ञान देनेके लिए, सबको आनन्द देनेके लिए प्रकट हुई है।

थोड़ी-सी बुद्धिकी बात आपको सुनाते हैं। वैसे गीताका सिद्धान्त इतना सरल है, इतना सीधा है, कुछ बहुत उसमें दर्शनशास्त्र जोड़नेकी आवश्यकता नहीं है। आप जो काम कर रहे हैं; उसका फल जब मिलेगा तब मिलेगा, जिस समय आप काम करते हैं उस समय आपको सन्तोष होता है कि नहीं कि हम एक अच्छा काम कर रहे हैं—मूल प्रश्न है। आप पीछेकी ओर घूमके मत देखिये कि हमसे क्या हुआ? जो हुआ सो हो गया, आप उसे लौटा नहीं सकते। जो आगे आवेगा उसको देख पाना आपके लिए शक्य नहीं है। उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिए तो दिव्य दृष्टि चाहिए कि आप देख सकें कि **निमित्तमात्रं भव सव्य-साचिन्।** आप कर्ता नहीं हैं आप भोक्ता नहीं हैं, अन्तर्यामी भगवान् हृदयमें बैठा है, आप कामके सेवक नहीं रामके सेवक हैं। आपको किसीको एक गिलास पानी पिलानेमें जो सुख होता है, वह क्या आपके कर्मका फल नहीं है? जब आपको कोई उसके बदलेमें एक गिलास शर्बत पिलावेगा तब आपको पानी पिलानेका फल मिलेगा? हम आपसे यह सीधा प्रश्न करते हैं। आप जिस समय प्यासेको एक गिलास पानी पिलाते हैं, उस समय उसको पानी पिलाके आपके हृदयमें शान्ति नहीं आती? उसको पानी पिलाके क्या आपके हृदयमें कोई सुख नहीं होता? आप अपने एक अच्छे कामको कामनासे कलुषित कर देते हैं, कामनासे गन्दा कर देते हैं? आप काम करनेका मजा क्यों नहीं लेते। आप उसके फलका मजा क्यों लेना चाहते हैं? जब आप काम करनेका मजा नहीं लेते, तब आप कंगले होते हैं, मँगते होते हैं, दीन होते हैं हीन होते हैं। आप कहते हैं हमको यह नहीं इसके बादवाला वह चाहिए तो गीतामें इस बातकी इतना अधिक चर्चा है कि आप अपने कर्मका आनन्द लीजिये। यदि आप करते समय आत्मतुष्ट हैं, आत्मतृप्त हैं, आत्मरसका अनुभव कर रहे हैं—जो भी काम कीजिये उस काम करनेमें जो अच्छाई है, उसका मजा लेते चलिये, उसका रस लेते चलिये, उसका स्वाद लेते चलिये, उसका रस लेते चलिये, कर्म और कर्मका सुख, इन दोनोंको जब आप अलग-अलग करते हैं तब कर्म करते समय आप रूखे हो जाते हैं, सूखे हो जाते हैं भूखे हो जाते हैं। आप कर्मको महत्त्व-हीन कर देते हैं। जो हम कर रहे हैं वह महत्त्वपूर्ण नहीं है, उसका आगे जो फल निकलेगा सो महत्त्वपूर्ण है। आपके जीवनका यह अमूल्य महत्त्वपूर्ण जो क्षण है यह क्षण गौरवशाली नहीं है—इस क्षणमें आप गौरवशाली नहीं हैं—आगे गौरवशाली होनेकी माँग बनाते हैं तो जो भी काम करिये आपके भीतर जो ईश्वर है उसको उसमें डालिये आपके भीतर जो आनन्द है उसको उसमें डालिये आपके भीतर जो ज्ञान है आप अपने जीवनके साथ जुड़कर काम कीजिये, अपने ज्ञानके अनुसार काम कीजिये अपने आनन्दका अनुभव करते हुए, उस काममें आनन्द डाल-डालकर काम कीजिये। देखिये, गीताकी पोथी रटनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी यह तो श्रीकृष्णके जीवनका अनुभव है। यह अनुभवकी पोथी है। श्रीकृष्ण कहते हैं कामके वश होकर यदि आगे बढ़ोगे तो तुम्हारे पाँव डगमगा जायेंगे, बुद्धि तुम्हारी स्थिर नहीं रहेगी। कामना हमारी यहाँ पूरी होगी कि वहाँ पूरी होगी? यदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रोधके वश होकरके तुम पाँव रखोगे, बौखलाके पाँव रखोगे, एक अच्छी चीजको भी बिगाड़ दोगे। यदि तुम यह सोचोगे कि बस इस काममें हाथ डालते ही अरबपति, करोड़पति हो जायेंगे, लोभवश काम करोगे, ऐसे पाँव लड़खड़ायेंगे तुम्हारे यह सोचनेकी अपेक्षा यह देखना जरूरी है कि हम काम ठीक कर रहे हैं कि नहीं, हमारी बुद्धि काम ठीक कर रही है कि नहीं ? यह देखना कि मरनेके बाद क्या मिलेगा : यह तो देखनेकी जरूरत ही नहीं है। मरनेके बादकी बात इसलिए सोची जाती है, क्योंकि उसमें यह कहते हैं कि स्वर्ग तब मिलेगा जब अच्छे काम करोगे। इसका अर्थ है यहाँ अच्छे काम करो। नरक मिलेगा कब ? जब वहाँ बुरे काम करोगे। इसका अर्थ है यहाँ बुरे काम मत करो। बुरे कामसे बचानेके लिए नरकका वर्णन है, अच्छे काम करवानेके लिए स्वर्गका वर्णन है. किसीको नरक, स्वर्ग भेजनेके लिए उनका वर्णन नहीं है। नरक-स्वर्गका वर्णन न क-स्वर्गमें भेजनेके लिए नहीं है। यहाँ बुरे कामसे बचानेके लिए नरकका वर्णन है। यहाँ अच्छा काम करवानेके लिए स्वर्गका वर्णन है। जो कुछ शास्त्र है वह आपको इसी जीवनके लिए है, इसी जीवनमें काम करनेकी विद्या बताता है। यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः। यह भी मजहबी बात नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि इस सारी विश्व-सृष्टिका संचालक एक परमेश्वर है—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां' और वह केवल संचालक ही नहीं है, 'येन सर्वमिदं ततम्' यह सम्पूर्ण विश्व वही है। वही है और उसीसे चल रहा है। देखो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर अभी है, ईश्वर यहीं है, ईश्वर यही है। उस ईश्वरकी पूजा कैसे होती है ? आप लोग गीता पढ़ते हैं, बताइये चन्दन हम खड़ा लगावें कि आड़ा यह बात गीतामें कहाँ कही है ? आप लोगोंमें-से बहुतोंने गीता पढ़ी होगी चन्दन खड़ा होना चाहिए कि आड़ा यह बात गीतामें नहीं है ? माला तुलसीकी होनी चाहिए कि रुद्राक्षकी यह कही गीतामें है ? कपड़ा लाल होना चाहिए कि सफेद कि पीला यह कहीं गीतामें है ? गीतामें न लाल पीले कपडेका वर्णन है, न रुद्राक्ष तुलसीकी मालाका वर्णन है। शिवकी पूजा करो कि विष्णुकी पूजा करो वर्णन है ? वह तो कहते हैं देखो ईश्वर अभी है, यहीं है, यही है, और उसकी सबसे बड़ी पूजा क्या है ?

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य
सिद्धि विन्दति मानवः।

आप अपने काम, जो काम आप कर रहे हैं वही ईश्वरकी पूजा है, बस आपके मनमें उद्देश्य होना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आप अपनी पूजाके लिए काम कर रहे हैं कि सर्वात्मा परमेश्वरकी पूजाके लिए काम कर रहे हैं ? यदि आपके काममें दूसरोंकी भलाईका ख्याल है तो आप ईश्वरकी पूजा कर रहे हैं। और यदि दूसरोंकी भलाईका ख्याल छोड़कर केवल अपनी भलाईके लिए काम कर रहे हैं तो वह आपका काम अपनी पूजा है, ईश्वरकी पूजा नहीं है। यह बात दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है। सब कहते हैं यह लो माला, यह लो तसबीर, यह लो किताब, यह लो जप, यह बैठो एकान्तमें, यह करो सिजदा, यह पढ़ो नमाज। सबलोग अपने-अपने ढङ्गसे पूजाकी बात बताते हैं। गीता वह पुस्तक है, गीता वह उपदेश है, गीता वह संवाद है जो कहता है—**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः** तुम अपने कर्मके द्वारा, जो कर रहे हो उसीके द्वारा—झाड़ू लगानेमें भी ईश्वरकी सेवा है, मशीन चलानेमें, बैठनेमें, चलनेमें, बोलनेमें भी ईश्वरकी सेवा है। चूंकि ईश्वर सब है, सब जगह है, सब समय है इसलिए हम जब हैं, जहाँ हैं, जो हैं, उसी कर्मको हम ईश्वर-की सेवाके रूपमें बना सकते हैं—**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**। यह कहो कि हमारे जीवनमें कोई दुःख न आवे, कोई अनिष्ट न आवे, भगवान् श्रीकृष्णके जीवनके अनुभवपर एक दृष्टि डालो, श्रीकृष्ण कहाँ पैदा हुए थे ? जेलखानेमें। किस माँ-बापसे पैदा हुए थे ? जिनके हाथमें हथकड़ी थी और पाँवमें बेड़ी थी, यह है जीवन। जन्म लेते ही रातों-रात उनको पराये घरमें जाकर रहना पड़ा। छठीसे पहले ही पूतनाने लाकर जहर पिला दिया। तीन महीनाका होते-होते छकड़ा उलटकर गिर पड़ा, एक बरसकी उम्रमें हवामें उड़ जाना पड़ा। अपने मामाको अपने हाथसे मारना पड़ा। ऐसी लड़ाई हुई कि श्रीकृष्णको नङ्गे पाँव एक धोती पहने हुए भागना पड़ा, लेकिन मुस्कान थी। पैदा हुए तब भी मुस्कान थी, पराये घर गये तब भी मुस्कान थी, जहर पिया तब भी मुस्कान, छकड़ा उलट गया तब भी मुस्कान, हार गये, जीवनमें हारना नहीं होता ? हार गये तब भी मुस्कान भागे तब भी मुस्कान। यह श्रीकृष्णका अनुभव है, इसका नाम गीता है। हवाईजहाजका हमला हो गया द्वारिकापर, शाल्वने हमला कर दिया, श्रीकृष्ण मुस्कुरा रहे हैं। ससुर सत्राजितके घरपर डाका पड़ गया, मारे गये, सत्यभामाके पिताजी मारे गये। श्रीकृष्णके चेहरेपर मुस्कान है। अपने बेटेको कोई छठीमें ही चुरा ले गया, प्रद्युम्नका अपहरण हो गया, उनके पौत्रका अपहरण हो गया। अद्भुत बात है कि श्रीकृष्णके सगे भाई बलरामजी श्रीकृष्णपर विश्वास नहीं करते, यह बात भागवत-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के मूलमें है–**किन्तु मामग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रति** वहाँ भी श्रीकृष्ण मुस्कुरा रहे हैं। बेटे एक बात नहीं मानते। साधु सन्तोंको लाकर पूजा करते हैं श्रीकृष्ण अपने घरमें और बेटे औरत बनकर परीक्षा लेते हैं, खास बेटे साम्ब औरत बने थे। श्रीकृष्ण कहते बेटे! तुम यह मत खाया करो, नाती पोते बेटे वही खाया करते थे। श्रीकृष्ण कहते थे बेटे! तुम यह मत पिया करो, बेटे वही पिया करते थे। श्रीकृष्ण कहते थे आपसमें मत लड़ो, बेटे कहते थे बुड्ढेको मार डालो। बिल्कुल भागवतमें आया है कि श्रीकृष्णके नाती-पोते अस्त्र-शस्त्र लेकर श्रीकृष्णको मारनेके लिए टूट पड़े, फिर श्रीकृष्णने अपने हाथसे उनको मारा। यह है श्रीकृष्णका जीवन। उनकी तलवार भी चलती थी मुस्कुराते हुए। यह है जीवन, यह है आनन्द, यह है ज्ञान।

महाराज, अन्तमें विमानपर चढ़कर गये? नहीं, एक बहेलियेने पाँवपर बाण मारा। यह देखो इस अनुभवी पुरुषकी वाणी है गीता। अनुभवकी पोथी है। आप अपने साथ जोड़िये। आप कब घबड़ा जाते हैं? पैसेकी कमीसे घबड़ा जाते हैं? व्यापार न चलनेपर घबड़ा जाते हैं? आपके परिवारके लोग आपके अनुकूल नहीं होते तब घबड़ा जाते हैं? आपके छोटे-बड़े आपकी बात नहीं मानते हैं तो घबड़ा जाते हैं? आपके सामने जब समस्या आती है, क्या करें, आप कैसे निर्णय करते हैं?

तो, यह गीता कोई जंगलकी किताब नहीं है, पहाड़की किताब नहीं है। यह पहाड़ोंकी तलहटीमें या नदियोंके संगमपर, एकान्तमें बैठकर महात्मा लोगोंके ध्यान और समाधिमें इसका स्वयं प्रकाश नहीं हुआ है। यह गीता युद्धभूमिमें प्रकाशित हुई है। यह आपकी बुद्धिको जागृत करती है। जागते रहिये **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः** आप काम बिलकुल मत बदलिये। ब्राह्मण वेदपाठ करें, क्षत्रिय सैनिकका काम करें, वैश्य व्यापार करें जो कर्म करते हैं वह करें जो श्रम करते हैं वे श्रम करें। अर्थ जो है वह बाहरकी वस्तु है वह बैंकमें रहे, तिजोरीमें रहे, जेबमें रहे। वह बाहरकी चीज है और कर्म, जो है वह अपने शरीरमें रहनेवाली वस्तु है और इनका जो नियन्ता है धर्म, वह बुद्धिमें रहता है। इसलिए गीता बुद्धिके पक्षमें है—**सहसा विदधीत न क्रियाम् अविवेकः परमापदमापदाम्**। एकाएक कोई काम नहीं करना चाहिए विवेकसे काम करो, अविवेक अपने जीवनमें न आने पावे। यदि आप विवेकपूर्वक काम करेंगे तो आपको सम्पत्तिकी भीख नहीं माँगनी पड़ेगी कि हे सम्पत्ति! हमारे पास आओ। जो विचार करके,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विमर्श करके काम करता है, सम्पदा उसके पास अपने आप आती है। यह गीता केवल हिन्दुओंके लिए नहीं, मुसलमानों, इसाइयोंके लिए नहीं, केवल भारतीयोंके लिए नहीं। यूरोप अमेरिकाके लिए नहीं है। यह तो जो भगवान्‌के बालक हैं जो भगवान्‌के बच्चे हैं, सबकी भलाईके लिए प्रकट हुई है। महात्मा गाँधी तो कहा करते थे कि जब मेरे सामने कोई समस्या आती है, घरेलू समस्या हो, राजनीतिक समस्या हो, व्यापारिक समस्या हो, जब कोई समस्या आती है, तब मैं गीता खोलकर बैठ जाता हूँ और गीता हमको स्पष्ट आदेश देती है, उपदेश करती है कि यह काम ऐसे करना चाहिए। यह गीता हमारे जीवनकी पोथी है। इसमें अनेक प्रकारसे यह बात समझायी गयी है, कर्मकी दृष्टिसे हमको कर्म करना चाहिए, आत्माकी दृष्टिसे हमको कर्म करना चाहिए, सबकी भलाईकी दृष्टिसे हमको कर्म करना चाहिए, ईश्वरकी पूजाकी दृष्टिसे हमको कर्म करना चाहिए, ब्रह्म और आत्माकी एकताकी दृष्टिसे हमको कर्म करना चाहिए, हम अपने कर्मसे मुँह न मोड़ें और जहाँ हमारे जीवनमें दुविधा आवे; सारी गीता सुनाकर भगवान्‌ने अर्जुनसे यह पूछा—
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।

अर्जुन! क्या तुमने एकाग्र मनसे गीता सुनी और सुनी तो तुम्हारे अज्ञानके मोहका, अज्ञान-जन्य मोहकी निवृत्ति हुई क्या? मतलब, गीता सुननेका फल क्या है कि हमारे जीवनमें अज्ञानके कारण होनेवाले मोह न हों। अर्जुनके सम्मोहके रूपको आप देखें। गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदाका वर्णन है। तो वह दैवी सम्पदा आसुरी सम्पदा क्या होती है, इसका उदाहरण है पहला अध्याय। सोलहवें अध्यायकी व्याख्या है पहला अध्याय। दुर्योधन आसुरी सम्पदाके व्यक्ति हैं और अर्जुन दैवी सम्पदाके व्यक्ति हैं। आप जब कोई काम करते हैं तो डरते-डरते करते हैं क्या? अभयं सत्त्व-संशुद्धिः साफ दिलसे करते हैं कि नहीं? समझदारीके अनुसार करते हैं कि नहीं? यह आपसे सवाल है—
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यव-स्थितिः। क्या काम करते समय आपको डर लगता है? तो फिर सोच लीजिये, आप क्यों डर रहे हैं? आप साफ दिलसे कर रहे हैं कि नहीं? कुछ मलिनता, कुछ दूसरेको तकलीफ पहुँचानेका काम है क्या? आप समझ-बूझके काम कर रहे हैं कि अनजानमें कर रहे हैं? आप अपने आपको तौलिये। अच्छा सब अपने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आप ही लेना चाहते हैं कि कुछ दूसरोंको भी देना चाहते हैं ? आप ऐन्द्रियक भोगके आवेगमें काम कर रहे हैं कि अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर काम कर रहे हैं ? क्या आप कुछ ऐसा काम कर रहे हैं जिससे पशुओंका भी लाभ हो, पक्षियोंका भी लाभ हो, पंचभूतोंको भी पवित्रता प्राप्त होवे, लोगोंको भी जो जो चाहिए, अन्न मिले यह आपके सच्चिदानन्द स्वरूपकी महिमा है। आप हैं और रहना चाहते भी हैं। तो जैसे आपको जीनेके लिए अन्न चाहिए, पहननेके लिए वस्त्र चाहिए; रहनेके लिए मकान चाहिए और रोग-निवृत्तिके लिए दवा चाहिए, वैसे दूसरोंको भी तो चाहिए न ! आप सत् हैं आप जीवित रहना चाहते हैं। जैसे आप जीवित रहना चाहते हैं वैसे दूसरे भी जीवित रहना चाहते हैं उनको अधिकार है। आप अपनेको मौतके चक्करमें मत डालिये मौतसे डरिये मत और दूसरोंको मौतसे डराइये मत। और, जैसे स्वयं जीते रहना चाहते हैं वैसे दूसरों-को जीते रहने दीजिये। आप चाहते हैं कि हमको कोई बेवकूफ न बनावे तो ठीक है आपको विद्यालय चाहिए आपको अध्ययन-शाला चाहिए, अनु-सन्धान-शाला चाहिए, वाचनालय चाहिए, पुस्तकालय चाहिए, बड़ोंसे सीख लेनी चाहिए, तो दूसरोंके लिए भी ऐसी व्यवस्था हो, सो आप कीजिये वही आपका कर्त्तव्य है। यह मनुष्यका जीवन रोनेके लिए नहीं है। यह केवल स्वर्गके लिए नहीं है, कोई नरकके लिए नहीं है, कोई मरनेके बादके लिए नहीं है। हमारे जीवनमें शरीरको ठीक रखनेके लिए आयुर्वेद चाहिए और शत्रुओंसे बचने-के लिए धनुर्वेद चाहिए, रक्षाका भी प्रबन्ध चाहिए। हमारे जीवनके लिए शिल्प-कौशल चाहिए, शिल्प वेद; बढ़िया-बढ़िया इञ्जीनियरिंगका सामान हम बनावें, यन्त्र बनावें, शिल्प-कला हो, स्थापत्य-विद्या हो, हमारे जीवनमें गान्धर्ववेद हो, आप जानते ही हैं वेदोंमें सामवेद भगवान्-का स्वरूप है। सामवेदमें चार चीज हैं। नृत्यविद्या—नाचना कैसे, अर्जुन को ऐसा बढ़िया नृत्य आता था कि एक बरस उसने रनिवासमें रहकर नृत्यकी शिक्षा दी थी। युधिष्ठिर को भी नाचना आता था। श्रीकृष्ण-को तो नाचना-गाना आता ही था। यह कुछ डरनेकी बात नहीं है। यह जो अध्यात्मविद्यासे आप लोग डरते हैं, तो वह बिलकुल गलत है। गान्धर्व वेदके चार अंग होते हैं, एक तो संघर्ष वाद्य होता है जैसे किनमिन किसमिन बजाते हैं, एक संघात वाद्य होता है जैसे सारंगी बजाते हैं। एक पिटके बजनेवाला ढोल नगाड़ा आदि होता है। एक सुपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाद्य होता है अपने प्राणसे, शहनाई बाँसुरी आदि। यह वाद्यकी शिक्षा भी प्राप्त करनी चाहिए। यह हृदयमें जो आनन्द है उसको प्रकट करनेके लिए आना चाहिए जिससे जीवन सुरीला हो जाये। हमारा जीवन कहीं बेसुरा न हो जाये। नृत्य, तालपर हमारे अंग हिलें, आपकी आँख कैसे हिले, हाथ कैसे हिले, कमर कैसे हिले पाँव कैसे हिले। नृत्य विद्या भी विद्या है और संगीत है। आप अपनी वाणीसे कब कौन-सा राग कौन-सी रागिनी, कैसे संगीत छेड़ें यह भी जीवन-की एक कला है। और अभिनय, सच पूछो तो आप अभिनय तो करते रहते हो, पर ठीकसे आता है कि नहीं वह आप जानें। क्या आप अपनी पत्नीके सामने दूसरी तरहसे और माताके सामने दूसरी तरहसे पार्ट नहीं करते हैं। क्या आप अपने बेटेके सामने और बापके सामने दोनोंके सामने एक ही तरहका पार्ट करते हैं? क्या आप जिस ग्राहकको माल देते हैं या जिस व्यापारीसे आप लेते हैं, क्या दोनोंके सामने एक ही तरहसे व्यवहार करते हैं? नहीं बाबा; पार्ट करते हैं। जिससे लेते हैं उससे दूसरा, जिसको देते हैं उसके सामने दूसरा, माँके सामने दूसरा, पत्नीके सामने दूसरा, बेटेके सामने दूसरा, बापके सामने दूसरा। आपके जीवनमें अभिनयकी आवश्यकता तो है ही। आपका जीवन कलापूर्ण होना चाहिए। हमारी जो अध्यात्म विद्या है, अध्यात्म शास्त्र है उसके बारेमें मालूम होना चाहिए। वह केवल भीख माँगनेके लिए नहीं है, वह जंगलमें रहनेके लिए नहीं हैं। सब लोगोंको संन्यासी बनानेके लिए नहीं है। यह श्रीमद्भागवद्गीता इसीलिए युद्धभूमिमें आयी, कोलाहलमें आयी। शान्त-दान्त उपराम हो करके बैठे हुए जिज्ञासुके सामने वेदान्त-विचारके रूपमें नहीं आयी।

रोते हुएको हंसानेके लिए गीता आयी है। जो भीख माँगनेको तैयार है उसको युद्धभूमिमें उतारकर विजय प्राप्त करानेके लिए गीता आयी है। हमारे जीवनको सुखी बनानेके लिए, शान्त बनानेके लिए, गीता आयी हैं। एक पुराणमें कथा है राजा पुरुरवा स्वर्गमें गये, इन्द्रने उठकर उनका स्वागत किया। दरवाजेतक इन्द्र आये और राजा पुरुरवाका स्वागत करके ले चले। पहचान कराते गये, यह अग्नि देवता हैं, यह वरुण देवता हैं, यह कुबेर देवता हैं। फिर एक जगह बताया यह धर्म देवता हैं। तो पुरुरवाने नमस्कार किया। फिर बोले यह अर्थ देवता हैं तो पुरुरवाने उनको नमस्कार नहीं किया। फिर बोले यह काम देवता हैं तो पुरु-रवाने उनको भी नमस्कार नहीं किया। यह पुराणकी कथा है। हमारे पुराणोंमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्या-क्या कथा है। जब पुरुरवाने उनको नमस्कार नहीं किया तो अर्थ और काम दोनों उनसे नाराज हो गये, उन्होंने कहा जाओ तुम सम्राट् होओगे, सप्तद्वीपवती पृथिवीके सम्राट् तो बनोगे लेकिन जिससे तुम प्रेम करोगे वह स्त्री तुमको छोड़कर चली जायेगी क्योंकि तुम कामको नमस्कार नहीं करते हो। अर्थने कहा कि तुम बनोगे सप्तद्वीपवती पृथिवीके सम्राट्, लेकिन हमको तुम नमस्कार नहीं करते हो, तो तुमको धनका कोई सुख नहीं मिलेगा, पागल होकर—विक्षिप्त होकर दुनियामें तुम घूमोगे और उन दोनोंके शापसे पुरुरवाकी यह दशा हुई। हमारे जीवनमें यह गीता चतुर्वर्ग, हमें अर्थोपार्जन हो, सुख मिले, हमारे जीवनमें —

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

हमारे जीवनमें काम रहे, परन्तु संयममें रहे। धर्मके अनुसार रहे, वह कामना तो भगवान्का स्वरूप है। हमारे जीवनमें धर्मके रूपमें स्वयं भगवान् आते हैं। **स्वधर्मे निधनं श्रेयः** हमारे जीवनमें धर्म निष्ठा होनी चाहिए और मुक्ति तो गीता आपको घरमें लाकर काम करते समय देती है।

तो नारायण देखो हमने गीताकी बातचीत श्रीकृष्ण अर्जुनका संवाद, संवाद माने बातचीत, यह कोई बड़ा मारो दर्शन-शास्त्र नहीं, हमारे जीवनका, शास्त्र रोज-रोजका शास्त्र है। आप काम कीजिये उसका रस लेते हुए समझदारीके साथ कीजिये और केवल अपने लिए नहीं, सबके लिए कीजिये। भगवान् सर्वरूपमें विराजमान है। आप जो कर रहे हैं वह भगवान्की सेवा है। हमारे ईश्वर केवल निराकार सातवें आसमानमें नहीं हैं, वे केवल निर्गुण रूपमें आत्माके रूपमें ही अनुभव करनेके लिए ही नहीं हैं। यह हमारे भगवान् धरतीपर हैं, मनुष्यके रूपमें हैं, इनका साधारणीकरण है। माने इनको हम सब रूपमें राम-रूपमें, कृष्ण-रूपमें, मांके रूपमें, पिताके रूपमें देखें। देखो हमारे तो ऐसे आचार्य हुए हैं वल्लभाचार्य जिन्होंने अपने पुत्रोंके रूपमें भगवान्को मानकर उनको लाड़ लड़ाया। हमारे ऐसे महात्मा हुए हैं, परमहंस रामकृष्णने जिन्होंने अपनी पत्नीको साक्षात् भगवती मानकर पूजा की। तो सर्वरूपमे भगवान्, हमारे गायकी पूजा, पेड़की पूजा, चिड़ियाकी पूजा चींटीकी पूजा है। सर्वरूपमें हमारे भगवान् हैं। इसलिए हम जब हों, जहाँ हों, जिस रूपमें हों, जो काम कर रहे हों, उसको भगवान्की सम्पूर्ण पूजा समझ करके और उसके रसको उसके सुखको, उसके स्वादको लेते चलें। गीता हमारे जीवनको सच्चिदानन्द मय, परमानन्दमय, रसमय, मधुमय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लास्यमय बनाती है। हमारा जोवन होवे। गीता हमको ऐसा जीवन नृत्य नाट्य संगीत, लास्यसे भरपूर देती है।

●

गुरुपूर्णिमापर

विस्मृत इक मूक लालसा मनकी—
हो उठी सजग उस ज्योति किरणसे—
सोई वह तृषा हृदयकी—
हो उठी ज्वलित उस महाशक्तिसे।
ओ ! महत् ज्ञान
ओ ! परा शक्ति
ओ वधू पुराणी
परम पुरुषकी
हे ! जगजननी तुम कलाकार
हो अवतरित हृदयमें अब अविलम्ब
गढ़ दे माटीसे—
एक मानव—
शुद्ध-बुद्ध औ मुक्त अकम्प
हे अमर्त्य तुम निराकार
आये वसुधा पर हो साकार
अखिल विश्व का सुन्दरतम
हो घनीभूत सिमटा तुममें
एक किरण बस-एक किरण—
दो दिशा मुझे सुन्दरतमकी—

—शीला भुवालका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मोल्लास

टीकाकार—श्री 'विष्णु'

(पूर्वानुवृत्त)

: ७ :

आत्मस्वरूपमें परम शान्ति

गाहं गाहं सरसिजवनं स्पन्दते गन्धवाहः
वाहं वाहं मधुमधुसुधां वर्धते शीतरश्मिः ।
शामं शामं प्रकृतिविकृतिर्निर्वृतिं याति वृत्ति-
र्नामं नामं स्वरसममलं धाम मां निर्वृणामि ॥

'गन्धवाह वायु कमलवनमें बार-बार डुबकी लगाकर मन्द-मन्द स्पन्दमान हो रहा है। शीतरश्मि चन्द्रमा मधु-मधु सुधाका वहन करते हुए बढ़ रहे हैं। प्रकृति-विकृति वृत्ति शान्त हो-होकर परमानन्दमें मग्न हो रही है। स्वरस निर्मल आत्मधाममें बड़ी सुकुमारताके साथ मैं शान्त हो रहा हूँ ॥७॥'

आत्मतरङ्गिणी टीका

आत्माके सदंशका उल्लास आकाश और दिशा है; उसके चिदंशका उल्लास काल है। उसके आनन्दांशका उल्लास यह सम्पूर्ण गति और सौन्दर्य है। आत्माके अद्वितीयत्वका उल्लास यह सम्पूर्ण भेदसमष्टि है। यदि एक वाक्यमें कहना चाहें तो दृश्यमात्र द्रष्टाका उल्लास है।

द्रष्टामें अन्यथा प्रतीति ही दृश्य है। अहं और इदं—दोनों ही आकार हैं जो स्वप्रकाश अपरिच्छिन्न आत्माको परिच्छिन्नवत् और जड़-दृश्यवत् प्रतीत कराते हैं। परन्तु सम्पूर्ण आकारोंके अनारोपिताकाररूप सदधिष्ठानको उनके चिन्मात्र स्वरूप प्रकाशकके साथ एकताका बोध हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जानेपर सभी आकार तथा तज्जन्य परिच्छिन्नताएँ और जड़ताएँ निर्मूल तथा मिथ्या अनुभव हो जाते हैं।

अज्ञानी मिथ्याको सत्यवत् ग्रहण करता है और तज्जन्य राग-द्वेषरूप बन्धन, दुःख और जड़ताका शिकार होता है। जिज्ञासु मिथ्याको सशंक ग्रहण करता है और तज्जन्य द्वन्द्वात्मक तनावका शिकार होता है। तथापि ज्ञानोन्मुख होनेके कारण वह इसके सुखके बन्धनसे बँधता नहीं: भक्त मिथ्याको तो मिथ्या समझता है—ईश्वराश्रित समझता है, परन्तु स्वयंकी परिच्छिन्नताकी सत्यत्व बुद्धिके कारण उसका यह मिथ्याग्रहण भी सत्यवत् होता है। अतः वह जगत्के लेपसे अछूता नहीं रहता; संसारित्व तो उसका कटता ही नहीं। परन्तु ब्रह्मवेत्ता पुरुष मिथ्याको मिथ्यावत् ही ग्रहण करता है और यह ग्रहण भी उसकी दृष्टिमें मिथ्या ही होता है। सन्त तुलसीदासजी के शब्दोंमें :

यत्सत्वाद् अमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।

'जिसकी सत्तासे सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च (असत्य होते हुए भी) सत्य-सा प्रतीत होता है, जैसे रज्जुमें प्रतीत होता हुआ सर्प।'

एक अन्य स्थानपर तुलसीके ही शब्द अधिक स्पष्ट हैं।

रजत सीप महँ भास जिमि यथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकै कोउ टारि॥
इहिं बिधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुःख अहई॥ (बालकाण्ड)

परन्तु ये सब उदाहरण भासकी दृष्टिसे हैं और इसलिए चित्प्रधान अनुभूतिके अनुवाद हैं। रसो वै सः अथवा आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात् अथवा विज्ञानमानन्दं ब्रह्म श्रुतियाँ उसी चिद्ब्रह्मको 'आनन्द' भी बताती हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्के मधु ब्राह्मणमें जो ब्रह्मनिष्ठ महात्मा हैं उनकी मिथ्या भासमान जगत्के प्रति क्या दृष्टि बन जाती है यह बताया गया है। यहाँ सत्में मिथ्याकी प्रतीति, द्रष्टामें दृश्यकी प्रतीति, आनन्दमें सुख-दुःखकी प्रतीति और अद्वितीयमें द्वितीयकी प्रतीति मिथ्या भासमान होनेपर भी आत्माके रस-महोदधिकी उल्लसित तरङ्गें हैं। अतः वे सब आनन्दसे पृथक् नहीं हैं। 'आनन्द'के पर्याय 'मधु'को लेकर वहाँ कहा है :

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ (बृहदा० २.५.१)

'यह पृथिवी समस्त भूतोंका मधु है और सब भूत इस पृथिवीके मधु हैं। इस पृथिवीमें जो तेजोमय अमृत पुरुष है और यह जो अध्यात्म शरीर तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है।'

इसी प्रकार वहाँ बारी-बारीसे जलको, अग्निको, वायुको, आदित्य-को, दिशाओंको, चन्द्रको, विद्युत्को, मेघको, आकाशको, धर्मको, सत्यको, मनुष्यादि जातिको और 'आत्मा' शब्दके व्यावहारिक वाच्य 'शरीर'को समस्त भूतोंका मधु और सब भूतोंको उन-उनका मधु कहा है तथा उन-उन उपाधियोंसे उपहित तेजोमय अमृतमय पुरुषको वही आत्मा बताया है जो उन-उनकी अध्यात्म उपाधियोंसे उपहित आत्मतत्त्व है। यही आत्मतत्त्व ब्रह्म है और यही सर्व है।

इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताके ब्रह्मज्ञानकी परिणति सर्वात्मभावकी अनुभूतिमें है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (ईशा० ७)

'जिस समय एकत्वदर्शी ब्रह्मवेत्ता यह अनुभव करता है कि आत्मा ही यह सब भूत हुआ है—आत्मा ही सर्वभूतोंके रूपमें भास रहा है, उस समय उसे कहाँ शोक और कहाँ मोह ? अर्थात् उसे सर्वदा आनन्द-का अनुभव रहता है।

किसी भी क्रिया, भाव और ज्ञानसे अपनी सत्ता, चित्ता और प्रियतामें हीनता, दीनता और परिच्छिन्नताका अनुभव न होना—यही सच्ची स्वरूपस्थिति तथा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति है। उपनिषद्का कथन है :

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः। (बृह० मधुब्राह्मण २.५.१५)

'वह यह आत्मा समस्त भूतोंका अधिपति एवं समस्त भूतोंका राजा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। जैसे रथकी नाभि और रथकी नेमिमें सारे अरे समर्पित रहते हैं, वैसे ही इस आत्मामें समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त शक्तियाँ और ये सभी आत्मा समर्पित हैं।'

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।
(बृह० ४.४.२३)

इस प्रकार जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी दृष्टिमें उत्पत्ति-विनाश, प्रवृत्ति-निवृत्ति, संकोचन-विस्तार सब आत्मनिष्ठ हैं उनके लिए सौन्दर्यकी कहीं कमी नहीं क्योंकि सौन्दर्यका विकास उनकी ज्ञानदृष्टिसे ही होता है। उनके लिए शान्ति और विक्षेप सम हो गये हैं। विक्षेप द्रष्टाकी दृष्टि है तो शान्ति उसका स्वरूप है। जैसे आपूर्यमाण समुद्र कभी अपनी अचल प्रतिष्ठाको नहीं खोता। उसी प्रकार यह आत्मसमुद्र अपनेमें अनन्त सृष्टियोंका ज्ञापन कराते हुए अपने स्वरूपमें नित्य शान्त रहता है।

तनिक महाराज श्रीके अनुभवका विचार कीजिये :

'अहा! नासिकासे यह कमल-गन्ध कैसी ज्ञात हुई? अवश्य ही वायु कमलवन से होकर आ रही है। अन्यथा वायुका स्वरूप तो निर्गन्ध है। गन्ध तो पृथिवी-तत्त्वकी तन्मात्रा है। अरे, यह गन्धवाह वायु मेरी नासिकामें घुसकर बार-बार कमलगन्धका ज्ञान करा रही है। अच्छा, तो यह गन्धवाह वायु बार-बार कमलवनमें डुबकी लगाकर (गाहं गाहं सरसिजवनं) मन्द मन्द स्पन्दमान हो रहा है (स्पन्दते)। गाहं गाहं सरसिजवनं स्पन्दते गन्धवाहः)[1]। [यह स्पन्दमान वायु मुझ आत्मतत्त्व (या स्पन्दतत्त्व) का ही स्फुरण (या स्पन्दन) है—यह अर्थ इस श्लोकांशमें छिपा हुआ है। मूल बात यह है कि घ्राण-इन्द्रियसे गन्धका एवं त्वक्-इन्द्रियसे वायुका बोध हो रहा है, कमल-गन्ध होनेसे इस बोधमें प्रियत्व (सुख) भी अनुभव हो रहा है, परन्तु ये सब अनुभवके अतिरिक्त और हैं भी क्या? मुझ आत्मस्वरूपमें ये सब आत्माके स्पन्दमात्र हैं और मधुका क्षरण कर रहे हैं]।

'अरे! यह शीतल स्पर्शका अनुभव कहाँसे हुआ? अच्छा! यह 'शीतरश्मि' चन्द्रदेवकी शीतल रश्मिका स्पर्श है। अहा! चन्द्रदेव तनिक

---

१. तुलना कीजिये : चलना सबाका ठुम ठुमक लाता पयामे यार है
—स्वामी रामतीर्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठहरो तो, तनिक तुम्हारी शीतल रश्मियोंसे तुम्हारी मधु-सुधाका पान तो कर लूँ ! परन्तु यह क्या ! तुम तो ठहरते ही नहीं। मन्द-मन्द गतिसे आगे ही बढ़े जा रहे हो ! (वर्धते) अच्छी बात है, सर्वत्र ले जाओ और बिखेरो अपनी इस मधु-सुधाको ! (वाहं वाहं मधुमधुसुधाम्)। तुम्हारी यह मधु-सुधा मेरे आनन्दकी ही एक झलक है। मेरी इन्द्रियाँ तुम्हारे द्वारा विकीर्ण तुम्हारे मधुसे आप्यायित हों। मेरे स्वरूपभूत मधुसे आप्यायित हों।

वाहं वाहं मधुमधुसुधां वर्धते शीतरश्मिः।

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं कि यह चन्द्रमा जो चमकता है, वह मेरे मस्तकका प्रकाशमान रजतका झूमर है :

सरा पा नूर पेशानी पै मेरी मह दुरखशाँ है।
कि झूमर है जबीं सीमीं पै मिर्जायि-जिमिस्ताँ का॥

(स्वामी रामतीर्थ)

'मेरे मस्तकपर जो प्रकाशमान चन्द्रमा चमक रहा है वह मानों शीतस्वरूपा उमादेवीके माथेपर लटकनेवाला चाँदीका झूमर है।'

कहते हैं जड़-जगत्की माँ 'प्रकृति' है, परन्तु उसके पतिका कोई पता नहीं। उसका पुत्र है 'महत्तत्त्व' जिसकी पत्नीका कोई पता नहीं। इसी प्रकार उसका पौत्र है 'अहंकार' और प्रपौत्र हैं पाँच—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी तन्मात्राएँ। इन पाँचोंका विवाह नहीं हुआ परन्तु ये मिलकर रहते हैं और अकेले भी। इनके मिले हुए रूप भी पाँच नामों से विख्यात हैं : आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी। इनका भी विवाह नहीं हुआ। अतः इनकी सन्तान-परम्परा आगे नहीं चलती। परन्तु इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, संघात, चेतना और धृति, शरीर, इन्द्रियाँ और मन—ये सब इनकी ही विकृतियाँ हैं। इस प्रकार जड़-जगत्का विस्तार वन्ध्याकी सन्तान-परम्पराका विस्तार है। अतः वह विकल्परूप अथवा अनिर्वचनीय है।

प्रकृति दीखती नहीं, उसका कार्य और विकार्य ही दीखता है। जो दीखता है वह दृश्य है और जो दृश्य है वह द्रष्टासे एक है। क्योंकि बिना द्रष्टाके वह दीखता नहीं और द्रष्टाको उसका अभाव भी दीखता है। द्रष्टाकी एक संवित्-रश्मिके गर्भ में अनेक दृश्य दीखते हैं और उन अनेक दृश्योंको दिखानेवाली है वृत्ति और वृत्त्यारूढ संविदात्मा। इस वृत्तिमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही द्रष्टा, दर्शन, दृश्यकी त्रिपुटीका भेद निर्मित होता है जो अभेद स्वरूप संविद्में ही आभासित होता है।

यह जो वन्ध्याकी सन्तान-परम्परामें प्रकृति-विकृतिरूप वृत्ति हैं, यह वेश्या है और अनेकरूपरूपा दृश्यमान है। वृत्तिका विषय भी प्रकृतिका कार्य या विकार रहता है। परन्तु उसका उपादान सदैव 'प्रकृतिमाता' ही रहती है। वह अपनी इसी माताके साथमें हँसती-खेलती और सोती है। हाँ, जो वन्ध्या प्रकृतिकी कल्पनाका आश्रय है—चित्तत्त्व, वही इस वृत्तिका भी आश्रय है। इसी आश्रयमें इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है।

यह जो आत्मामें दिशा, काल, पञ्चमहाभूत, सूर्य-चन्द्र आदिका भास और उल्लास हैं वह इसी वृत्तिमें भासता है। अतः इनका लय भी इसी वृत्तिमें भासता है। परन्तु यदि वृत्ति स्वयं ही दृश्यसे उपराम हो जाय तो? वह धीरे-धीरे शान्त होकर चित्स्वरूपके साथ एक हो जायेगी। वृत्तिकी प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों ही आत्माके लिए आनन्दका हेतु हैं—एक उल्लासके रूपमें तो दूसरी स्वरूपगत शान्तिके रूपमें। यों उल्लसित आनन्द और स्वरूपगत शान्त्यानन्द ब्रह्मनिष्ठके लिए कोई भेद उपस्थित नहीं करता।

आत्मामें विकल्परूप दिक्-कालादिका बोध एक साथ नहीं होता। वृत्तिमें एक कालमें एक ही विषय स्फुरित होता है। अतः समुद्रमें तरङ्गोंकी भाँति वृत्ति जब एक विषयसे दूसरे विषयमें तरङ्गायित होती है तो मध्यमें बार-बार उसे अपने आश्रयमें डूबना पड़ता है। डूबना निवृत्ति है और पुनः विषय लेकर उदित होना प्रवृत्ति है। परन्तु ब्रह्मनिष्ठके लिए दोनों अवस्थाओंमें आनन्दमें कोई अन्तर नहीं आता।

आत्माके इस शान्ति-स्वरूपका वर्णन करते हुए महाराजश्री कहते हैं :

शामं शामं प्रकृतिविकृतिर्निर्वृतिं याति वृत्तिः।

'यह प्रकृति-विकृति वृत्ति शान्त हो-होकर (शामं शाम) निर्वृत्ति-स्वरूप परमानन्दको प्राप्त हो रही है।'

वृत्तिके अपने आश्रयमें शान्त होनेपर उसका आश्रय चित्तत्त्व ही शेष रहता है। इसका वर्णन महाराजश्रीके शब्दोंमें :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामं नामं स्वरसममलं धाम मां निर्वृणामि।

'मैं बड़ी सुकुमारताके साथ (नामं नामं) स्वरस निर्मल आत्मधाममें शान्त हो रहा हूँ (निर्वृणामि)।'

यहाँ 'अमलम्'से सत्, 'स्वरस'से आनन्द और 'धाम'से चित्का बोधन हो रहा है। कुल मिलाकर आत्माकी सच्चिदानन्दरूपता अङ्कित की गयी है। श्रीमद्भागवतके ब्रह्मके **'धाम्ना स्वेन सदा निरस्त-कुहकम्'** रूप स्वरूपकी अनुभूतिको ही यहाँ महाराजश्रीने वाणी दी है।

प्रस्तुत उल्लासमें गत्यात्मक शब्दोंकी मनोरमतापर ध्यान दीजिये : गाहं-गाहं, वाहं-वाहं, शामं-शाम, नामं-नामं। सभी शब्द मन्द-मन्द गतिके सूचक तो हैं ही, उनके प्रकरणानुसार प्रयोगकी छटाकी भी अपनी शोभा है।

'निर्वृति याति' और 'निर्वृणामि' भी उसी प्रकार अपूर्ण गति-निरोधके अर्थमें हैं जैसे 'स्पन्दते' और 'वर्धते' अपूर्ण गति-प्रवृत्तिके अर्थमें हैं। भाव यह है कि गति किसी ओर हो—विषयाभिमुख वा आत्माभिमुख, उसको कोई सीमा नहीं है और उसकी प्रत्येक अवस्थामें आत्मानन्द उपलब्ध रहता है, क्योंकि आत्माका संकोचक कोई नहीं है, वह ब्रह्म है। आत्मा नित्य निवृत्त है। उसमें वृत्ति और उसमें प्रातिभासिक (या व्यावहारिक) विषय-विषयीभाव भी आत्माका किसी प्रकार संकोच नहीं करते, उल्टे उसके उल्लासको ही प्रकट करते हैं।

कर्मी प्रवृत्तिको आनन्दका हेतु मानते हैं, और भक्त विशिष्ट प्रवृत्तिको आनन्दका हेतु मानते हैं। योगी निवृत्तिको आनन्दका हेतु मानते हैं। परन्तु वेदान्तनिष्ठ महात्माओंकी दृष्टिमें प्रवृत्ति-निवृत्तिका व्यावहारिक भेद भी आत्मनिष्ठ होनेके कारण और आनन्द भी आत्मनिष्ठ होनेके कारण सर्वत्र सर्वदा आनन्द ही आनन्द है।

असलमें प्रवृत्ति-निवृत्तिका हेतु दृश्यके प्रति सत्यत्व और प्रियत्व बुद्धि है। जहाँ ब्रह्मात्मैक्य-बोध द्वारा दृश्यका मिथ्यात्व अनुभव हुआ, वहाँ प्रवृत्ति-निवृत्तिकी किसी भी अवस्थामें आनन्द-वृद्धिकी कल्पना भी असार हो जाती है। इस विषयमें अगला उल्लास है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विमर्शनीयशांकरभाष्यम् : एक चिन्तन

विरक्तशिरोमणि श्रीवामदेवजी महाराज

काशी आदि स्थानोंमें वितरित 'विमर्शनीयशाङ्करभाष्यम्' एतन्नामक लघुकाय पुस्तिकामें विरोधाभासके व्याजसे शाङ्करभाष्यका विरोध प्रदर्शन किया गया है। किन्तु प्रसङ्गानुसार भाष्याक्षरार्थ समझनेपर न वे विरोध हैं न विरोधाभास। एतदर्थ लेखकके, अक्षरशः प्रदर्शित विरोध तथा अस्मत्कृत तद्विवेचन पाठकोंके लिए उपस्थित किये जाते हैं। उपर्युक्त पुस्तिकामें कर्तृत्व-विषयक विरोध दो भागोंमें विभक्त किया है, उनमें-से प्रथम भागका अक्षरशः उद्धरण निम्नलिखित है।

'सांख्यका खण्डन करते हुए सू० २. ३. ३६ में विज्ञान पदका जीव अर्थ किया है, बुद्धि नहीं किया। तथा बुद्धिमें कर्तृत्वका खण्डन भी किया है। किन्तु स्वसिद्धान्तका प्रदिपादन करते हुए सू० २. ३. ४० में उसी विज्ञान पदका अर्थ वुद्धि किया है तथा बुद्धिमें ही कर्तृत्वका मण्डन किया है। इस विरोधाभासका भामतीकारने उल्लेख किया है। तथा हि—इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति शास्त्रम् विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २. ५. १) इति। ननु विज्ञान शब्दो बुद्धौ समधिगतः कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यते इति ? नेत्युच्यते जीवस्यैष निर्देशो न बुद्धेः। सू० २. ३. ३६ अत्र भामती—अभ्युच्चयमात्रमेतन्नसम्यगुपपत्तिः। यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः 'विज्ञानं यज्ञं तनुते इति स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रवृत्तत्वात् मनोऽनन्तरं पाठाच्च। सू० २. ३. ४० अत्र भामती—यदस्माभिः कथितमभ्युच्चयमात्रमेतन्न सम्यगुपपत्तिः। तदितः समुत्थितम्'।

विवेचन—इस प्रथम विरोधके प्रथमभागोक्त विरोध-प्रदर्शनका कारण यह प्रतीत होता है कि लेखक यह समझ रहे हैं—सू० २. ३. ३६ में विज्ञान शब्दाका अर्थ जीव, भाष्यकारने स्वसिद्धान्ताभिमत किया है तथा भामतीकारके अभ्युच्चय पदका अर्थ विरोध या विरोधाभास है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किन्तु न तो भाष्यकारने ही ३६वें सूत्रमें विज्ञान पदका अर्थ जीव स्वसिद्धान्ताभिमत किया है और न भामतीकारके अभ्युच्चय पदका ही विरोध या विरोधाभास अर्थ है।

तथा च भाष्यकारने विज्ञान पदका अर्थ जीव प्रौढ़िवादसे किया है तथा भामतीकारके विज्ञान पदका अर्थ भी प्रौढ़िवाद ही है।

भाष्यकारकी प्रौढ़ि यह है—जो भोक्ता होता है वही कर्त्ता होता है। इस शास्त्रीय कर्म-विषयक नियमानुसार सांख्यको यदि भोक्तृत्व, चेतन जीवनिष्ठ अभिमत है तो कर्तृत्व भी चेतन जीवनिष्ठ ही स्वीकार करना होगा। इसी दशामें विज्ञानं यज्ञं तनुते इस श्रुतिके विज्ञान पदका अर्थ बुद्धिकर बुद्धिनिष्ठ कर्तृत्व धर्म सिद्ध करना सम्भव न होनेसे विज्ञान पदका अर्थ जीव करना ही सांख्यमतमें सम्भव है। अतः विज्ञान पदका अर्थ जीव है ऐसा शंकराचार्यजीका कथन है प्रौढ़िवादसे है स्वसिद्धान्तसे नहीं। यही भामतीकारने भी कहा है कि भाष्यकारका एतत्=विज्ञान पदका जीव अर्थ करना 'अभ्युच्चयमात्रम्' प्रौढ़िवाद-मात्र है। सम्यक्=स्वसिद्धान्तरूपसे 'उपपत्तिः'=उपपादन नहीं है।

यदि सूत्र ३६ में स्वसिद्धान्तरूपसे विज्ञान पदका अर्थ जीव किया गया होता तो ४०वें सूत्रमें विज्ञान पदका स्वसिद्धान्तरूपसे किया गया जो बुद्धि अर्थ है उससे विरोध होता। अतएव जब ३६वें सूत्रमें विज्ञान पदका जीव अर्थ स्वसिद्धान्तरूपसे भाष्यकारने किया ही नहीं तब विरोध कैसे, तथा उपर्युक्त अर्थ जान लेनेपर विरोधाभास भी कैसे ?

४०वें सूत्रमें कर्तृत्व बुद्धिनिष्ठ है ऐसा सिद्धान्तरूपसे अर्थ कथन करनेके लिए विज्ञान शब्दकी बुद्धिमें ही प्रसिद्धि कहकर स्वसिद्धान्तरूपसे विज्ञान पदका बुद्धि अर्थ कर बुद्धिनिष्ठ कर्तृत्वकी भाष्यकारने सिद्धि की है। अतएव भामतीकार कहते हैं—'अस्माभिः' हमने 'यत्' जो 'कथितं' ३६वें सूत्रकी भामतीमें कहा था कि 'एतत्' भाष्यकारके द्वारा विज्ञान पदका जीव अर्थ करना है, 'अभ्युच्चयमात्रम्' प्रौढ़िवादमात्र है 'सम्यक्' सिद्धान्तरूपसे 'उपपत्तिः' उपपादन 'न' नहीं है। 'तत्' वह हमारा कथन 'इतः' भाष्यकारके द्वारा सिद्धान्तरूपसे ४०वें सूत्रमें विज्ञान पदका बुद्धि अर्थ करनेके प्रकरणसे 'समुत्थितम्' समुत्पन्न हुआ है। हमारी कल्पनामात्र नहीं है।

यह भामतीकारकी ४०वें सूत्रको पंक्तिके उपर्युक्त अर्थसे भी कोई विरोध प्रदर्शनकी गन्धमात्र भी सिद्ध नहीं होती है। भामतीकी पंक्तिका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थ भी पूर्वोक्त ही है अन्य नहीं। क्योंकि ३६वें सूत्रके भाष्यका आलोडनकर, अभ्युच्चयमात्रमेतत् न सम्यगुपपत्तिः इस पक्तिके उल्लेखमें कारण वताते हुए कल्पतरुकार लिखते हैं कि विज्ञानशब्देन कोशरूपबुद्धेरभिधानात् आत्मकर्तृत्वासाधकत्वात् विज्ञानपद कोशरूप बुद्धिका कथन करता है अतः विज्ञानं यज्ञं तनुते इस वाक्यस्थ विज्ञानपद आत्मनिष्ठ कर्तृत्वका साधक न होनेसे इस ३६वें सूत्रमें विज्ञान पदसे भाष्यकारका जीव अर्थ करना प्रौढ़िवादमात्र है यह भामतीकारका कथन उचित ही है। पूर्वोक्त प्रकारसे भाष्यादिका विचार करनेपर न तो भाष्यमें विरोध ही सिद्ध होता है न विरोधाभासके ही पैर टिक पाते हैं। अतः भाष्यमें विरोध या विरोधाभास प्रदर्शक विद्वानोंसे नम्र निवेदन है कि वे भाष्य, तट्टीकादिका सम्यग् आलोडन किये बिना विरोधाभासादि पंकनिक्षेप इतस्ततः न करें।

प्रथम विरोधान्तर्गत कर्तृत्व-विषयक द्वितीय भागका अक्षरशः उद्धरण निम्नलिखित है—

'एवं सूत्र १. २. १२ में भी बुद्धिमें कर्तृत्वका खण्डन किया है किन्तु सूत्र २. ३. २९ तथा २. ३. ४० में कर्तृत्वको बुद्धिका ही धर्म कहा है तथा हि—नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता, किं तर्हि चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति प्रवृत्ता, तदर्थं च सुखादिविक्रियावति सत्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते, परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि संभवति अचेतनत्वात् सत्वस्य। अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य अविद्याप्रत्युपस्थितत्वाच्च सत्वस्य सुतरां न संभवति। सू० १. २. १२) बुद्धयुपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वम्। (सू० २. ३. २९) तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वम्। (सू० २. ३. ४०)

[पुनः]

विवेचन—यद्यपि विरोधके मूलभूत रूपसे अभिमत भाष्य वाक्योंका लेखकने अर्थं नहीं किया तथापि लेखककी भावना यह है कि सू० १. २. १२ के भाष्यमें बुद्धिनिष्ठ कर्तृत्वका निषेध किया है तथा २. ३. २९ तथा ४०वें सूत्रमें कर्तृत्वका बुद्धिमें विधान किया है। अतः विरोध अथवा विरोधाभास है।

परन्तु भाष्य-पंक्तियोंका अर्थ समझनेपर विरोध या विरोधाभास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोई भी सिद्ध नहीं होता। अतः प्रसङ्गपूर्वक भाष्य-पंक्तियोंका अर्थ प्रदर्शन करते हैं। १. २. १२ सूत्रस्थोद्धृत भाष्यवचन, द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योभिचाकशीति। (मु० ३. १) इस मुण्डक श्रुतिमें कर्मफलभोक्ता तथा प्रकाशकर्ता इन दो पदार्थोंका सुपर्णारूपसे वर्णन किया है वे कौन हैं ? इस शङ्काके उत्तरमें पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणोक्त समाधानके प्रकरणके हैं। उनका अर्थ इस प्रकार है—

श्रुतिवाक्यका पैङ्गि-रहस्य ब्राह्मणानुसार जावकी ब्रह्मरूपता अर्थ निश्चय किया तो उसमें—जब यह शंका हुई कि इस पक्षमें अचेतन बुद्धिसत्वमें भोक्तृत्वका कथन कैसे किया ? इसके उत्तरमें भाष्यकार लिखते हैं कि—'नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता' अर्थ—यह श्रुति अचेतन बुद्धिसत्वनिष्ठ भोक्तृत्वको कहूँगी इसलिए प्रवृत्त नहीं हुई है। भाव यह है कि यद्यपि श्रुति सत्वनिष्ठ भोक्तृत्व कह रही है कि अन्य (सत्व) कर्मफलको यथावत् भोगता है तथापि सत्वनिष्ठ भोक्तृत्व कहनेमें तात्पर्य नहीं है। शंका—किं तर्हि—तो श्रुति-तात्पर्य किसमें है ? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां वक्ष्यामीति। अर्थ—चेतन क्षेत्रज्ञकी अभोक्तृता तथा ब्रह्म-स्वरूपता कहूँगी इसलिए श्रुति प्रवृत्त हुई है। अर्थात् श्रुतिका तात्पर्य चेतन क्षेत्रज्ञकी अभोक्तृता तथा ब्रह्मरूपता कहनेमें है।

शंका—तत्पुनः बुद्धिको भोक्ता कहनेकी क्या गति अर्थात् श्रुतिने बुद्धिको भोक्ता क्यों कहा है ?

उत्तर—तदर्थंसुखादि विक्रियावति सत्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति। अर्थ—क्षेत्रज्ञकी ब्रह्मरूपताकी सिद्धिके लिए सुखादिविकारवाले बुद्धि सत्वमें भोक्तृत्वको श्रुति अध्यारोपित करती है अर्थात् भोक्तृत्व धर्मको बुद्धिपर डालती है। क्योंकि अध्यारोप या आरोप शब्दका अर्थ अध्यास ही नहीं होता जैसे वृक्षारोप तथा पादपाध्यारोपणादि स्थलोंमें स्थापनादि अर्थ भी होते हैं। शंका—कहाँ स्थित भोक्तृत्व बुद्धिपर डाला जाता है ? तथा जीवके अभोक्ता होनेपर जीवमें भोक्तृत्व बुद्धि कैसे ?

उत्तर—इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते।

अर्थ—यह कर्तृत्व भोक्तृत्व सत्वक्षेत्रज्ञके परस्पर तादात्म्याध्यासकृत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्पना की जाती है। अर्थात् सत्वक्षेत्रज्ञके स्वरूपोंकी अविद्यादशामें स्थित भोक्तृत्व बुद्धिपर स्थापित किया जाता है, उसका धर्म बताया जाता है तथा जीवके अभोक्ता होनेपर भी अविद्यासे जीवमें भोक्तृत्व अनुभव होता है। वस्तुतः जीवमें भोक्तृत्व नहीं है। तात्पर्य यह है कि सुखादि रूपमें परिणामको प्राप्त, चैतन्यके साथ तादात्म्यापन्न, बुद्धिसत्व, चैतन्य जैसा हो भोक्ता होता है। अतः बुद्धिसत्वके अध्यास-कालमें भोक्ता होनेपर भी अभोक्ता चैतन्यरूप क्षेत्रज्ञमें भोक्तृत्व अविवेकसे भासता है। अतः जीवमें भोक्तृत्व कल्पित है। अतएव **परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि संभवति। अचेतनत्वात् सत्वस्य, अविक्रियत्वाच्चक्षेत्रज्ञस्य। अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्वस्य सुतरां न संभवति।**

परमार्थसे भोक्तृत्व तो सत्व क्षेत्रज्ञ इन दोनोंमें-से किसीका भी सम्भव नहीं है क्योंकि सत्व जड़ है तथा क्षेत्रज्ञ अविक्रिय है।

शंका—जीवमें तो आरोपित होनेसे भोक्तृत्व भले ही परमार्थतः मत रहो किन्तु बुद्धिमें परमार्थतः क्यों नहीं? उत्तर—बुद्धिको अविद्यासे उपस्थापित होनेसे उसमें भोक्तृत्व किसी प्रकार परमार्थतः सम्भव नहीं है। भाव यह है कि जो बुद्धि सत्व स्वयं अविद्यासे उपस्थापित स्वरूपवाला होनेसे कल्पित है उसका धर्म पारमार्थिक कैसे सम्भव हो सकता है? भाष्यका पूर्वोक्त अर्थभाष्यकी टीकाओंके अनुसार हमने किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि भाष्यकारको अविद्या दशामें कर्तृत्व भोक्तृत्वादि व्यवहार चित्तादात्म्यापन्न बुद्धिमें स्वीकार है परमार्थसे विवेक दशामें किसीमें भी स्वीकार नहीं। अर्थात् बुद्धयुपाधिकृत ही जीवमें कर्तृत्व भोक्तृत्वादि व्यवहार है यह उक्त भाष्य पंक्तियोंका विवेचित अर्थ है। यही बात भाष्यकार २-३-२९ तथा ४० वें सूत्रमें कह रहे हैं कि

बुद्धयुपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वम्। २. ३. २९
तस्माद्बुद्धिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वम्। २. ३. ४०

बुद्धिरूप उपाधिके कर्तृत्व धर्मके अध्याससे ही आत्मामें कर्तृत्व धर्म है। अतः उपर्युक्त भाष्यपंक्तियोंका सम्प्रदायाचार्यों तथा उनकी टीकाओंके द्वारा अर्थ समझनेपर भाष्यमें कर्तृत्वविषयक पूर्वापर-विरोधकी गन्धमात्र भी नहीं है।

[पुनः]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीभक्तिरसायनम्

प्रथम अध्याय

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

गिरमित १.२१

मयोच्यमानं शृणुतेत्यनुक्त्वा गां पौरुषीं मे शृणुतेत्यवोचत् ।
ततोऽजनि व्यक्तमिदं मृषोक्त्या लब्धा प्रतिष्ठापि न भव्यकृत्स्यात् ।।२७।।

ब्रह्माजीने यह नहीं कहा कि मेरी बात सुनो। ऐसे कहा कि देवताओ ! मुझसे पुरुष-वाणी श्रवण करो। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्या वाणीसे प्राप्त प्रतिष्ठा कल्याणकारिणी नहीं होती।

निर्दिष्टं प्रभुणा स्वकार्यमचिराचारेण कालान्तरे
यद्यत्राचरितं तदा भृशमुदासीनः प्रभुर्जायते ।
तादृक् सम्प्रति मामवत्विति धियाऽसौ दीर्घदर्शी विधि-
र्युक्तं मा चिरमाश्विति द्विपदतः प्रोवाच तत्केलिदृक् ।।२८।।

ब्रह्माने अपने मनमें विचार किया, प्रभुने अपने कार्यको शीघ्र आचरण करनेके लिए निर्देश दिया है। यदि मैं विलम्बसे करूँगा तो प्रभु मुझसे उदासीन हो जायेंगे। मानो यही सोचकर दीर्घदर्शी ब्रह्माने मैं शीघ्र वैसा काम करूँ और प्रभु मेरी रक्षा करें इस विचारसे चिरं और आशु इन दोनों पदोंका प्रयोग किया। शीघ्र-दर्शनकी लालसा जो है।

पुरवेति १.२२

सामान्योऽपि नृपो धराज्वरपरीहाराय निस्तन्द्रधी-
स्त्यक्त्वा कार्यशतान्यपीह भवतीत्यारादयं त्वच्युतः ।
श्रीभूपः श्रितराजहंससमयः श्रीराजराजान्वित-
स्तद्युक्तं द्विजराजशेखरनुतः प्राग्वेद यद्भूज्वरम् ।।२९।।

एक साधारण राजा भी सौ-सौ काम छोड़कर अपनी भूमिका दुःख दूर करनेके लिए सावधान रहता है। यह तो स्वयं अच्युत हैं। श्रीपतिके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साथ-साथ पृथ्वीपति भी हैं। राजहंसके समान विवेकी हैं। राज राजेश्वर हैं। द्विज राजशेखर चन्द्रमा इनके चरणोंमें प्रणाम करते हैं। इन्होंने भूमिके दुःखको पहले जान लिया यह युक्ति युक्त ही है।

धराद्वयज्वरध्वंसो विधेयोऽस्ति ममेति सः।
पौर्वापर्यविधावीशो युक्तं पूर्वमचिन्तयत् ।।३०।।

'धरा' शब्दका दो अर्थ है पृथ्वी और यशोदा। भगवान्ने सोचा हमें दोनोंका दुःख दूर करना है। पहले धरा–पृथ्वीका, बादमें धरा–यशोदाका। अतएव पहले निश्चयकर लिया।

सर्वांशतो यदि गता भुवि सर्व एते
स्वस्थोपभोगसुखराशिरनन्तदत्तः।
ग्राह्यस्तदा तु बत कैरिति चिन्तयानो
युक्तं जगाद विधिरंशत एव यात ।।३१।।

ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा तुम लोग अपने-अपने अंशसे पृथ्वीमें जन्म ग्रहण करो। अंशसे क्यों? परिपूर्ण रूपसे क्यों नहीं? इसपर कहते हैं—ब्रह्माजीने विचार किया कि यदि ये देवतागण सर्वांशसे पृथ्वीमें जन्म ग्रहण कर लेंगे तो भगवान्ने इन्हें जो स्वर्गीय सुख भोगकी धनन्त राशि दी है उसका भोग कौन करेगा? मानो यही सोचकर ब्रह्माने ठीक ही कहा कि आप लोग अंश जन्म ही ग्रहण कीजिये।

वसुदेवेति १.२३

सर्वैश्वर्ययुतोऽष्टसिद्धिसहितः पूर्णेष्टकामोऽप्यलं
स्वामी स्वोपकृतावनालसमनाः स्याच्चेत्तदा सेवकैः।
शक्त्याऽऽकल्प्य तदोपदां प्रियतमां सत्कार्य एवादरा-
देतद्योजयता व्यबोधि विधिना तत्प्रीतये योषितः ।।३२।।

ब्रह्माजीने देवताओंको आज्ञा दी कि श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिए देवाङ्गनाएँ भी जन्म ग्रहण करें। इसका अभिप्राय क्या है? भले ही स्वामी सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, अष्टसिद्धि-सहित और पूर्ण काम हों, परन्तु जब वह आलस्य छोड़कर सेवकोंका उपकार करनेके लिए आवें तो शक्तिके अनुसार उसकी प्रियतम सामग्री उपस्थित करके आदरपूर्वक उसका सत्कार करना चाहिए। भगवान्की प्रसन्नताके लिए देवाङ्गनाओंकी व्यवस्था करके भगवान्ने यही स्पष्ट किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासुदेवेति१.२४

पुरस्कृत्यैव संग्रामे बलं राजकुलेडिताः ।
जयन्त्यरनितो युक्तं बलमाधान्निजाग्रगम् ॥३३॥

बल माने सेना और बलराम । कवि कहते हैं कि बलरामको अपना अग्रज और अग्रग्र क्यों बनाया ? सभी श्रेष्ठ राजा संग्राममें बल (सेना)-को आगे करके ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं । ठीक ही है श्रीकृष्णने भी बल (बलराम)को आगे भेजा ।

विष्णोरिति १.२५

दुर्मायिनोऽरिनिवहस्य पराजयः स्या-
न्निर्मायिकेन हरिणा कथमित्युदीताम् ।
शङ्कां प्रमार्ष्टुमवदत् स हरिः स्वसार-
मादिष्टवानुचितकार्यकृते स्वमाथाम् ॥३४॥

निर्माय श्रीहरि दुष्टमायावी शत्रुओंको पराजित कैसे करेंगे ? इस शङ्काका परिमार्जन करनेके लिए ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा कि प्रभुने अपनी मायाको वहनके रूपमें जन्म लेकर उचित कार्य करनेका आदेश दे दिया है ।

शूरसेनेति १.२७.

श्रीमन्महाविवाहाभिव्यक्ताविर्भावहेतुकः ।
प्रक्रान्तो मुनिना युक्तं तद्विवाहकथाक्रमः ॥३५॥

श्रीमान् महाविवाहके स्पष्ट आविर्भावका कारण विवाह कथा क्रमका ही शुकदेवजीने वर्णन प्रारम्भ किया । संस्कृतमें 'वि' शब्दका अर्थ पक्षी होता है । अतः पहले विवाह शब्दका अर्थ है गरुड़-वाहन ।

पथि प्रग्रहिणमिति १.३४

कृत्वोत्तेजितमेव शत्रुमभितः स्वोक्त्या लसत्संधया
हन्तव्यः सहसा न जातुचिदपीत्यालोच्य धर्मस्थितिम् ।
शूराणां स्वयमाजिघृक्षुरचिराज्जन्मापि शूरान्वये
श्रीशो युक्तमधान्नृशंसमनिशं कंसं गिरोत्तेजितम् ॥३६॥

शूरवीर पुरुषोंकी धर्म-मर्यादा यह है कि अपनी साभिप्राय वाणीसे पहले शत्रुको पूर्णरूपसे उत्तेजित कर लेते हैं फिर उसको मारते हैं । एकाएक प्रहार नहीं करते । यही विचार करके भगवान्ने और यह भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि शीघ्र ही शूरवंशमें मुझे जन्म ग्रहण करना है। नृशंस कंसको आकाश-वाणीसे उत्तेजित करके ठीक ही किया।

यद्भीतिर्मनसि स्थिता विधिबलात्तच्छिक्षकेनाभयं
दत्तं चेत्सहि कीदृशोऽपि गतभीस्तस्याग्रतो गर्जति।
युक्तं ब्रह्ममुखेन दैवतगणो लब्ध्वाम्बुधावाश्रयं
दैत्यारेर्गतसाध्वसं नभसि यत्कंसाग्र एवं जगौ ॥३७॥

किसीका डर किसीके मनमें समाया हुआ हो, विधि बलसे यदि उसके दण्डदाताने अभय दान दे दे तो भयभीत पुरुष कितना भी निर्बल क्यों न न हो, वह भयदाताके सामने गर्जना करने लगता है। समुद्रके तटपर ब्रह्माके मुखसे देवताओंने भगवान्का आश्रय प्राप्त कर लिया। अब वे निर्भय होकर कंसके सामने आकाशमें गर्जना कर रहे हैं।

पुरोऽरेः स्वसारं समाधाय कुर्यामहं दुष्टनाशं सतां रक्षणं च।
अभिप्रायमेनं प्रभोर्व्यञ्जयन्ती तदुद्वाह एवोदिता वाक् तदासीत् ॥३८॥

शत्रु कंसकी बहन देवकीको ही उसके सामने रखकर मैं दुष्टोंका नाश और सत्पुरुषोंका रक्षण करूँगा। प्रभुका यह अभिप्राय प्रकट करनेके लिए ही देवकीके विवाह-प्रसङ्गमें ही आकाशवाणी हुई।

जगद्गुरुर्मन्दरसानुकूलः सन्मङ्गलः सूर्यविशेषशोभी।
योऽसावनिष्टोऽष्टम एव सिद्धो भुवीति युक्तं सुरवागवादीत् ॥३९॥

देववाणीने आठवें गर्भका ही नाम क्यों दिया ? जन्म-पत्रके ग्रह चक्रमें आठवें स्थान पर जो ग्रह अनिष्टकारक होते हैं उनके नामका श्लेष करते हुए श्रीहरिसूरि श्रीकृष्णका वर्णन करते हैं कि वे अष्टम गर्भके रूपमें आकर ही कंसका अनिष्ट करेंगे। देखिये वे जगद्गुरु हैं (इसमें गुरु बृहस्पतिका नाम है) वे समुद्र मन्थनके समय मन्दर पर्वतके प्रति सानुकूल हैं (मन्दशनीश्चरका नाम है) वे सन्मङ्गल सन्तोंके निवास स्थान हैं (मंगल हैं) सूर्यमें इनका ध्यान किया जाता है। गरुड़ तथा शेषपर गमन-शयनकी शोभा ग्रहण करते हैं। अष्टम स्थानमें ही इनका अनिष्ट होना सिद्ध है इसलिए आकाशवाणीने ठीक ही कहा।

निर्बन्धमिति १.४७

श्रोता शृणोतु वा मा वा पथ्यं पथ्यपथेक्षणः।
ब्रूयात् स्वदोषं संमार्ष्टुं शौरिरत्र निदर्शनम् ॥४०॥

पथ्य पथदर्शी पुरुषको चाहिए कि श्रोता सुने या न सुने वह स्वयंको

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोषसे मुक्त करनेके लिए पथ्य अर्थात् हितकारी बात अवश्य कह दे, इसके दृष्टान्त हैं वसुदेव।

स्वसुर्वधादिति १०.१.५५

नैतत्कदाचिदपि संभवतीति मत्वा
कार्ये न जातु विदुषैवमुदासितव्यम्।
यत्ने कृते सति हरेः कृपया सुसिद्धच-
त्येतत्स्फुटं सुफलके वसुदेवकृत्ये ॥४१॥

यह काम कभी सम्भव नहीं है ऐसा मानकर विद्वान् पुरुषको अपने कर्तव्यसे कभी उदासीन नहीं होना चाहिए। यत्न करनेपर भगवत्कृपासे वह भी सिद्ध हो जाता है। वसुदेवकी सफलतासे यह स्पष्ट है।

किं दुःसहमिति १०.१.५८

साधुः स एव सहतेऽखिलदुःसहं यो
निर्वासनं भवति यद्धृदयं स विद्वान्।
यत्सर्वकृत्यमतिनिन्द्यमसौ कदर्यो
यो दुस्त्यजं त्यजति स प्रगृहीतचेताः ॥४२॥

जो सभी प्रकारके दुःसहको सह लेता है वही साधु है। जिसका हृदय निर्वासन होता है वह विद्वान् है। जिसके सब कृत्य अत्यन्त निन्दनीय हैं वह कदर्य है। जो दुस्त्यजको भी छोड़ सकता है वह वशीकृत-चित्त है।

प्रतियात्विति १०.१.६०

तुल्यदृक् सत्यवाक् कीर्तिमन्तं यो भजते नरम्।
तस्यावश्यं द्विषन्तोऽपि वश्याः स्युरिह तत्स्फुटम् ॥४३॥

वसुदेवके प्रथम पुत्रका नाम कीर्तिमान था। भक्त कवि अपनी उत्प्रेक्षामें उसका लाभ लेते हैं। जो समदर्शी एवं सत्यवादी मनुष्य कीर्तिमान पुरुषकी सेवा करता है, उसके शत्रु भी निश्चय ही वशमें हो जाते हैं। यह इस प्रसंगमें स्पष्ट है।

नन्दाद्या इति १०.१.६२

यद्दर्शनं जगति तत्त्वदृशोऽप्यलभ्य-
मागात् स कंसमसदग्र्यमृषिस्तदेतत्।
चित्रं न चित्रमथवा भुवि सिद्धमेव
यत्पुण्यपाक-सुमनः-फलमीदृगर्थम् ॥४४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिन ऋषिका दर्शन इस जगत्में तत्त्वज्ञानियोंके लिए भी दुर्लभ है वे नारद ऋषि दुष्ट शिरोमणि कंसके दरबारमें स्वयं आये। यह एक आश्चर्य है अथवा यह कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि जब कंसने वसुदेवके प्रथम बालकको उदारता पूर्वक छोड़ दिया तो इस पुण्य-परिपाकके फूल-फल ऐसे ही होने चाहिए।

यत्साहाय्येन शत्रुर्भवति सुबलवाँस्तद्विनाशे प्रयत्नः
कार्यो विज्ञैरितीमं नयमनुगुणमालोचयन् कार्यसिद्धौ।
आगत्यागण्यपुण्यप्रचयविघटनायैव कंसं नु देवा–
एवेमे यादवाः खल्विति समकथयद्देवमानी मुनीशः ॥४५॥

जिसकी सहायतासे शत्रुका बल बढ़ता है, विज्ञ पुरुषको चाहिए कि पहले उस सहायकका ही विनाश कर दे। कार्य सिद्धिके लिए यह राज-नीति फलप्रद है। अपनेको देवता माननेवाले देवर्षि नारद मानो यही सोचकर कंसके अगणित पुण्य-राशिको विघटित करनेके लिए उसको बतला गये कि ये यदुवशी सब-के-सब देवतारूप ही हैं। अर्थात् देवताओंने ही इनके रूपमें जन्म लिया है।

देवांशो वसुदेव एष इति चेत्तेनात्मसख्यं कथं
नन्दस्य व्रजवासिनो मम प्रजारूपस्य नैसर्गिकम्।
स्याद्वैतस्य कथं सवृष्णिनिवहः स्वज्ञातिबन्ध्वात्मक–
स्तस्मादुक्तमिदं न सङ्गतमिति श्रद्धालुरस्मद्गिरि ॥४६॥

न स्यात्ततो न भविता सुरवर्यकार्य–
सिद्ध्यर्थयत्नमनसः सफलागतिर्मे।
आलोचयन्निति स तेष्वखिलेषु देव
भावं शशंस लिखनं कथमन्यथेदम् ॥४७॥

(युग्मम्)

नारदजीने अपने मनमें विचार किया, मैं चाहता हूँ कि देवि-देवताओंका काम बन जाये और मेरा आना सफल हो जाये। अब मुझे क्या कहना चाहिए ? यदि मैं कहूँगा कि यह वसुदेव देवांश हैं तो कंस सोचेगा कि ऐसी दशामें यह मेरे प्रजा व्रजवासी नन्दके साथ इतना स्वाभाविक प्रेम कैसे करते हैं ? यह भी सोच सकता है कि यदुवंशी वसुदेवके जाति वन्धु प्रेमी कैसे होंगे ? इसलिए नारदकी बात, संगत नहीं है। ऐसा समझकर वह मेरी बात पर विश्वास नहीं करेगा तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्या कहना उचित है ? यदुवंशी नन्द एवं जो उसके साथी हैं उनमें भी देवता लोगोंने ही जन्म लिया है अन्यथा सबको देवता कहना निरर्थक हो जाता ।

देवकीमिति १०.१.६६

ग्रामान्तरस्थितितयाऽब्दकरार्पणाच्च
तत्सम्मतस्थितितया च न चाप न नन्दः ।
तत्क्लेशमित्यनुगतार्थमिहाग्रचलेखा—
दक्लेशभाक् तदनुरोधितया स्थितो यः ॥४८॥

जो दुःख देवकी वसुदेवको मिला वह नन्द बाबाको नहीं मिला । इसका कारण क्या है ? वे दूसरे गाँवमें रहते थे । वार्षिक-कर दे दिया करते थे । कंससे मन मिलाकर रहते थे । मूलके लेखसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि जो अनुकूल होकर रहता है उसे क्लेशकी प्राप्ति नहीं होती ।

प्रवृत्तोऽत्र स्वैरं भवति सति कर्मण्य सति वा
न वै जन्तुः किन्तु भ्रमयति भवानेव ननु तम् ।
शिशुप्राणत्राणप्रसृतकरुणः सन्नपि विभो
नृशंसो यन् कंसोऽसकृदधिकृतो नारदगिरा ॥४९॥

हे सर्व प्रेरक अन्तर्यामी ! प्राणी अच्छे कर्ममें या बुरे कर्ममें स्वच्छन्द प्रवृत्त नहीं होता । किन्तु आप ही उसे इधर-उधर भटकाते हैं । स्पष्ट है न कि नृशंस कंसके हृदयमें शिशुओंके प्राण-त्राणके लिए करुणाका उदय हो गया था । परन्तु नारदकी वाणीसे प्रेरणा करके आपने उसे बार-बार शिशु-हत्याके कर्ममें लगा दिया ।

यो हन्ति द्वेष्टि वा जाल्मो हिंस्रधीः कीर्तिमज्जनम् ।
सिद्धमेवास्य दुष्कीर्तिवारिधौ कीर्ति मज्जनम् ॥५०॥

जो दुष्ट हिंसा परिपूर्ण बुद्धिसे कीर्ति-मज्जन (वसुदेवके प्रथम बालकका नाम कीर्तिमान)को मारता है या उससे द्वेष करता है, यह स्वतः सिद्ध है कि उसकी कीर्ति दुष्कीर्ति समुद्रमें डूब जाये । कीर्ति-मज्जन हो जाये ।

(सावशेष)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चने खाओ

चिकित्सा-शास्त्रियोंने हाल ही में यह पता लगाया है कि चने खानेसे हृद्रोगको रोकनेमें काफी मदद मिलती है। चनेमें एक ऐसा तत्त्व होता है जो रक्तमें दाने पैदा नहीं होने देता। एक सर्वेक्षणके अनुसार दिल्लीके एक हजार बच्चोंमें-से १२ बच्चे हृद्रोगसे पीड़ित पाये गये, जबकि बम्बईमें एक हजारके पीछे केवल एक। इसका कारण स्पष्ट है। दिल्लीमें लोगोंका भोजन अपेक्षाकृत अधिक गरिष्ठ और दुष्पाच्य होता है जबकि बम्बईके लोगोंका भोजन हल्का और सुपाच्य होता है। यह भी पता चला है कि बम्बईके बच्चे चने ज्यादा खाते हैं।

आजकल हृद्रोग इतना अधिक बढ़ गया है कि सीनेमें उठा थोड़ा-सा दर्द भी मनुष्यको आतङ्कित कर देता है। जब बैठे-बिठाये आदमी-को दिलका दौरा पड़ ही जाता है तो लोग हाथ मलते रह जाते हैं और बड़ी-बड़ी दवाइयाँ और चिकित्सा-यन्त्र भी बेकार साबित होते हैं। ऐसी स्थितिमें भारतका औसत आदमी अपनी रोजमर्राकी खुराकमें कुछ परिवर्तन करके यदि हृद्रोग जैसी बीमारीसे छुटकारा पा सके तो इससे बढ़िया बात और क्या हो सकती है ?

चने खाना या दहीका सेवन करना वैसा नहीं है जैसा कि नीमका काढ़ा पीना या कुनैनकी गोली खाना हो, हमारी पुरानी कहावतोंमें चने खानेको कुछ इस तरह वर्णित किया गया है कि मानों यह केवल मुसीबतजुदा या दरिद्र लोगोंका भोजन है। लेकिन अब यह सबसे ज्यादा उन्हींके लिए मुफिद होगा जो बादाम और काजू खाते हैं या खा सकते हैं। क्योंकि हृद्रोग ज्यादातर इसी तबकेके लोगोंको होता है। यों चने और बादामके बीच इतनी चौड़ी खाई सिर्फ हिन्दुस्तानमें ही दिखायी पड़ती है। अफगानिस्तान, ईरान और तुर्कीमें तो बादाम, पिस्ता और चना ठेलेमें एक साथ बिकता है और लोग उसे लगभग समान मजेके साथ खाते हैं। जिनके पास खर्चके लिए बेशुमार पैसा है, शायद वे चने खाना अपनी तौहीन समझें और यह भी चाहें कि चने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की 'टैबलेट' निकाली जाय तो खायें या कोई चनेका इन्जेक्शन बन जाय तो लगवा लें। लेकिन यह तो स्पष्ट ही है कि किसी चीजका सेवन उसके प्राकृतिक रूपमें किया जाय तो उसका असर जल्दी होगा, ज्यादा होगा।

कुछ सभ्य लोग चने इसलिए भी नहीं खाते कि चनोंकी कृपाके कारण सभा-गोष्ठियोंमें बैठनेपर कभी-कभी काफी पसोपेशकी स्थिति बन जाती है। लेकिन सवाल यह है कि चने जैसी सस्ती और सुलभ चीजका सेवन, जो कि डाक्टरोंकी नजरमें हृद्‌रोगनाशक, बल-वीर्यवर्धक और नेत्र-दृष्टि रक्षक है, क्या आप सिर्फ छोटी-मोटी नजाकत और नफासतके चलते छोड़ देंगे?

अगर चने इतने बुरे होते तो हमारे पूर्वजों ने उन्हें क्यों चबाया होता? महाराणा प्रतापने खुद भी चने चाबे और मुगलोंको भी चबवाये और उनको तो नाकों चने चबवाये। चनेसे बढ़कर निरापद और सह-अस्तित्ववादी चीज क्या होगी? ऐसी कि जिसे खुद भी खायें और दुश्मनोंको भी खिलायें। लेकिन ऐसे महान् खाद्यपदार्थका महत्त्व घटानेके लिए किसीने यह कह डाला कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। लेकिन अब यह सिद्ध हो गया है कि अकेला चना हृद्‌रोगको तो रोक ही सकता है। अकेले, इकलौते चनेकी महिमा इतनी ही नहीं है। अगर अकेला चना भाड़से उड़ पड़े तो भड़भूजेकी आँख तो फोड़ ही सकता है, चाहे भाड़ कोई और फोड़े।

चना ऐसी चीज नहीं है कि सिर्फ खानेके काम ही आये। वह लगानेके काम भी आ सकता है। यहाँ चूनेकी नहीं, चनेकी ही बात की जा रही है। चनेके बेसनका लेप चेहरेको ऐसा चिकना करता है कि मक्खन खाना या लगाना छोड़ दें। कहनेका मकसद सिर्फ इतना ही है कि चना कोई ऐसी चीज नहीं है कि जिसे पीछेके दरवाजेसे लाया जाय या अड़ोसियों-पड़ोसियोंसे छिपाकर रातके अँधेरेमें गुपचुप खाया जाय। यह ऐसी चीज है जिसे हमारे पूर्वज भी खाते-खिलाते आये हैं और हमें भी खुलकर खाना चाहिए।

(न. भा. टा.)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज द्वारा योगिराज चांगदेवजीको लिखा हुआ अपूर्व पत्र

श्री चांगदेव पैसठी

[यशवन्त बलवन्त क्षीरसागर, बम्बई]

अहमदनगर जिलेमें-दौड़ मनमाड-के रास्तेपर पुनतांवा नामक स्टेशन पड़ता है। यह वही पवित्र स्थान है, जहां योगिराज श्री चांगदेवजी महाराज समाधिमें स्थित हैं। सात-आठ सौ साल पूर्व श्री चांगदेवजीकी बड़ी कीर्ति देशमें फैली थी। वे बड़े सिद्ध योगी थे, मन्त्र-तन्त्रज्ञ थे। अनेक चमत्कार करते थे। कहते हैं कि अपनी मृत्युको भगाकर वे चौदह सौ सालतक जीवित रहे।

लेकिन श्री चांगदेवजी महाराज का बड़प्पन, उनकी सिद्धाईसे, लम्बी आयुसे या मन्त्र-चमत्कारोंसे नहीं नापा जा सकता। उनका बड़प्पन इसीमें है कि उन्होंने अपनी सारी योगविद्या २०-२१ सालके एक ब्रह्मज्ञानी युवाके चरणोंमें समर्पित की और उस महा-पुरुषसे परम सत्यका ज्ञान पाकर कृतकृत्य हो गये। श्री चांगदेवजीको ब्रह्मज्ञान प्रदान करनेवाले महान् सन्त थे श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज।

श्री चांगदेवजी महाराजका जन्म तापी नदीके तटपर एक सुसंस्कृत ब्राह्मण परिवारमें हुआ था। कहते हैं कि बालकका शरीर सुन्दर होनेसे (महाराष्ट्रभाषामें सुन्दरताका प्रति-वाचक शब्द 'चांगला' है) उसका नाम चांगदेव रखा गया।

श्री चांगदेवजी दशग्रन्थी थे, दर्शन-शास्त्रके मर्मज्ञ थे, शिल्प-ज्योतिष आदि शास्त्रोंका भी उन्होंने अध्ययन किया था। वे भगवान् शिवके उपासक थे। शायद श्री शिवजीको ही वे श्री वटेश कहते होंगे। श्री ज्ञानेश्वरजीने अपनी काव्य रचना **चांगदेव पैसठी**-का शुभारम्भ श्री वटेशके स्मरणसे ही किया है।

इतनी ज्ञानप्राप्ति होनेपर भी श्री चांगदेवजीको शान्ति नहीं मिली। कहते हैं कि युवावस्थामें घूमते-घूमते जब वे काशी गये तब उन्हें एक विवरमें रहनेवाले महान् योगीका संग मिला। सात सालके बाद जब वे उस विवरसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाहर निकले तब अलौकिक सिद्धियाँ चांगदेवजीके चारों ओर मँडराने लगीं। पारमार्थिक और व्यावहारिक मार्ग-दर्शनके लिए खूब लोग उनके पास आते।

सिद्धियोंसे और लम्बी आयुसे भी श्री चांगदेवजी ऊब गये। आत्मानुभूति न होनेसे उनका जीवन अशान्त सा था। इसी बीचमें पैठन-आलन्दी आदि भागोंमें गूँजता हुआ श्री ज्ञानेश्वरजीका पावन नाम श्री चांगदेवजीके कानों तक आगया और उन महात्माके दर्शनके लिए श्री चांगदेवजीका मन उमड़ पड़ा।

श्री चांगदेवजीके मनमें आया कि श्री ज्ञानेश्वरजीको प्रथम पत्र लिखें। लेकिन पत्रकी शुरुवात कैसे की जाय? श्री ज्ञानेश्वरजीकी कीर्ति इतनी बढ़ी थी कि चांगदेवजी उन्हें **चिरंजीव** सम्बोधित नहीं कर सकते और **तीर्थस्वरूप** लिखें तो श्री ज्ञानेश्वर-जीकी उम्र बहुत छोटी थी। इसी संभ्रममें आकर चांगदेवजीने अपना पत्र बिल्कुल कोरा रखा और वह कोरा पत्र अपने शिष्यके हाथ आलन्दीमें श्री ज्ञानेश्वरजीके पास भेज दिया।

श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज महा-ज्ञानी और अलौकिक महापुरुष थे। वह कोरा कागज देखकर उन्होंने एक निमिषमें अपने प्यारे चांगदेवजीका निर्मल दिल पहचाना। स्वयंको मिलनेकी उनकी प्यास भी पहचानी। इन महान् सन्तको करुणा उमड़ उठी और उस कोरे पत्रको श्री ज्ञानेश्वर-जीने जो पैसठ श्लोकोंमें जवाब दिया वही महाराष्ट्र-भाषामें चांगदेवपासष्टी (चांगदेव-पैसठी नामसे सुप्रसिद्ध है।

चांगदेव पैसठी—एक व्यक्तिगत पत्र

वास्तविक रूपमें **'पैसठी'** अनु-भवके उच्चकोटिपर विराजमान एक महात्मा द्वारा दूसरे सिद्ध-योगी महा-पुरुषको लिखा हुआ एक व्यक्तिगत पत्र है। विद्वानोंका कहना है कि चांगदेव-पैसठीमें उत्तम कोटिका और गहन तत्त्वज्ञान प्रतिबिम्बित हुआ है। मेरी तो यही विनम्र प्रार्थना है कि इस छोटे रसास्वादनसे मूल-ग्रन्थ पढ़नेकी प्रेरणा जिज्ञासुओंमें जागृत हो।

इन श्लोकोंके (ओवियोंके) उपसंहारमें श्री ज्ञानेश्वरजीने बड़े प्यारसे चांगदेवजीको सम्बोधित किया है। श्री चांगदेवजीके जीवनपर वे किञ्चित् भी आक्षेप नहीं करते बल्कि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए उन्हें प्रोत्सा-हित करते हैं। दो महान् सन्तोंका मिलाप करनेवाली यह एक अद्भुत रचना मानी जाती है।

श्री चांगदेव-पैसठीके प्रारम्भमें श्री ज्ञानेश्वरजीने श्री वटेशका स्मरण किया है और परब्रह्मके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग किया है। टीकाकारोंके मतमें श्री चांगदेवजीके आराध्य देवका नाम 'श्री वटेश' हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पंसठीके प्रारम्भमें सन्त लिखते हैं—

स्वस्ति श्री वटेशु।
जो लपोनि जगदाभासु।
दावी, मग ग्रासु।
प्रगटला करी॥

श्री वटेश (परब्रह्म) आपका कल्याण करें। जब वह छिपा-सा रहता है, तब जगत् भासमान होता है और जब वह प्रकट (प्रतीत) होता है तब समूचे जगत्का ग्रास कर देता है।

प्रगटे तंव तंव न दिसे।
लपे तव तव आभासे।
प्रगट ना लपला असे।
न खोमता जो॥

इस जगत्के रूपमें ज्यों-ज्यों वह प्रकट होता है, तब चर्मचक्षुसे वह दिखायी नहीं देता। ज्यों-ज्यों वह अपनेको समेट लेता है, त्यों त्यों उसकी अनुभवमें प्रतीति होने लगती है। वस्तुत: वह न प्रकट है, और न छिपा हुआ।

बहु जंव जंव होये।
तंव तंव कांहीच न होये।
काही न हौनि आहे।
आघवाचि जो॥

वास्तविक (बहुविध रूपोंमें) फैला हुआ दीखनेपर भी उसमें कुछ विकार नहीं होते और कुछ न होकर भी वह ज्यों का त्यों भरपूर है।

इस विचारको दृष्टान्त देकर विशद करते हुए श्री ज्ञानेश्वरजी लिखते हैं—

सोने सोनेपणा उणे।
न येताचि झाले सोने।

सोना अपना सुवर्णत्व न त्यागकर भी अलंकार बन जाता है और—

कल्होल-कंचुक।
न फोडिता उघडे उदक।
तेवी जगेसी सम्यक्।
स्वरुप जो॥

अपना कल्लोल (लहरियाँ) रूपी वस्त्र न हटाकर भी जल जैसे अपनेको जाहिर करता है, उसी तरह जगत्में परब्रह्म स्वरूपसे ही जाहिर है।

परिमाणूँचि मांदिया।
पृथ्वीपणेन वचेचि वाया।
तेवि विश्वस्फूर्ति इया।
झाक्वेना जो॥

पृथिवीपना (पृथिवीका रूप) धारण करके भी परमाणुओंका जैसा लोप नहीं होता, उसी तरह विश्वका स्फुरण (विवर्त) उस परब्रह्मको ढँक नहीं सकता।

कलांचेनि पांघुरणे।
चंद्रमा हरपो नेणे।
का वन्हि दीप पणे।
आन नोहे॥

कलाओंकी ओढ़नी ओढ़कर चन्द्रमा अपनेको छिपा नहीं सकता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या दीपकके रूपमें आनेपर वह्निमें कुछ फेर-बदल नहीं होता।

म्हणोनि अविद्या निमित्ते।
दृश्य द्रष्टत्व वर्ते॥

इसलिए दृश्य और द्रष्टा यह भेद सिर्फ निमित्तमात्र अविद्यासे ही हो सकता है।

तेवि द्रष्टा-दृश्य दशे
अतीत दृङ्मात्र जे असे।
तेचि द्रष्टा-दृश्य मिसे।
केवल होय॥

द्रष्टा और दृश्यसे अतीत जो दृङ्मात्रहै, वही द्रष्टा-दृश्यसे अलग केवल सत्य है।

संविद्-विचार

अलंकार येणे नामे।
असिजे निखिल हेमें।
नाना अवयव संभ्रमें।
अवयविया जेवि॥
तेवि शिवोनि पृथ्वीवरी।
भासती पदार्थांचिया परी।
प्रकाशे ते एकसरी।
संवित्ति हे॥

—जिसे विविध अलंकारोंके नाम दिये जाते हैं वह वास्तविक रूप-में जैसा (एक) सुवर्ण ही है, अथवा भिन्न अवयवोंसे जैसे एक शरीरका (जीवका) बोध होता है, उसी तरह एक ही संविद् पृथिवीपर भिन्न-भिन्न पदार्थोंके रूपमें प्रकाशित होती है।

नाही ते चित्र दाविती।
परी असे केवल भिंती।
प्रकाशे ते संवित्ति।
जगदाकारे॥

—एक भीतपर जैसे विविध चित्र (वस्तुतः न होकर भी) दिखाये जाते हैं, उसी तरह एक ही संविद् जगत्के आकारमें प्रकाशित हो रही है। गुड़के आकार भिन्न-भिन्न होनेपर भी जैसी गुड़की मिठास समान रहती है, उसी तरह जगत्के विभिन्न आकारोंमें एक ही संविद् भरपूर है।

श्री चांगदेवजीको समझाते-बुझाते हुए सन्त लिखते हैं—

न लिंपता सुख-दुःख।
येणे आकारे क्षोभोनि नावेक।
होय आपणेया सन्मुख।
आपणचि जो॥

—अपनेको उसने ही जान लिया समझना कि जिसके मनमें जगत्के इन आकारोंसे क्षण भरके लिए क्षोभ नहीं होता और सुख-दुःखसे जो लिप्त नहीं होता।

तया नाव दृश्याचे होणे।
संवित्ति द्रष्टृत्वा आणिजे तेणे।
बिंबा बिंबत्व जालेपणे।
प्रतिबिंबाचेनि॥

—दृश्य वही है कि जिसके कारण संविद् द्रष्टृत्वको (द्रष्टापन) प्राप्त होता है। जैसे प्रतिबिम्बके कारण बिम्बत्वकी सिद्धि होती हो।

तेवि आपणचि आपुत्रा पोटी।
आपणया दृश्य दावित उठी।
द्रष्टा, दृश्य, दर्शन त्रिपुटी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मांडे ने हे ॥

—बात यह है कि हम अपनेमें-से ही (अपने सामने ही) दृश्य खड़ाकर देते हैं, जिससे द्रष्टा, दृश्य और दर्शन यह त्रिपुटी बन जाती है।

'नुसते मुख जैसे।
देखिजतसे दर्पण मिसे।'

—जैसे दर्पणमें अपना ही मुँह देखना हो।

तैसे न वचता भेदा।
संवित्ति गमे त्रिधा।
हे चि जाणे प्रसिद्धा।
उपपत्ति इया ॥

—इस (संसार) की सच्ची उपपत्ति यही है कि बिल्कुल भेद (अलगाव) न होकर भी, संविद् त्रिधा—त्रिपुटीके रूपमें दिखायी देती है।

दृश्याचा जो उभारा।
तेचि द्रष्टृत्व होय संसारा।
या दोही माजि अंतरा।
दृष्टि पंगु होय ॥

—इस संसारमें खड़ा हुआ दृश्य ही द्रष्टृत्व (द्रष्टापन) निर्माण करता है। इन दोनोंमें दृष्टि तो केवल पंगु निर्बल बन गयी है।

दृश्य जेधवा नाही।
तेधवा दृष्टि घेऊनि असे कांही।
आणि दृश्येविण कांही।
द्रष्टृत्व असे ? ॥

—जब दृश्यका ही अस्तित्व नहीं, तब दृष्टि पानेसे क्या लाभ ? और क्या दृश्यके सिवा कभी द्रष्टृत्व रह सकता है ?

दर्पणाच्या आधी शेखी।
मुख असतचि असे मुखी।
माजी दर्पण अवलोकी।
आन कांही होये ?

दर्पणमें मुखावलोकन करनेसे पहले और पश्चात् मुख तो अपने स्थानपर ज्यों-का-त्यों रहता है। दर्पणमें देखनेसे क्या वह कुछ निराला बन जाता है ?

म्हणौनी दृश्याचिये वेळे।
दृश्य द्रष्टृत्वा वेगले।
वस्तुमात्र निहाले।
आपणा पाशी ॥

इसलिए सामने जब कुछ दृश्य आवे, तब जान लेना कि दृश्य और द्रष्टृत्व इनसे न्यारी एकमात्र वस्तु तुम स्वयं हो।

(बुबुला)

आपुलिया बुबुला।
दृष्टि असोनि अखम डोला।
तैसा आत्मज्ञानी दुबला।
ज्ञानरूप जो ॥

दृष्टि होकर भी आँख जैसी अपने गोलक (बुबुल)को देख नहीं पाती उसी तरह जीव ज्ञान-स्वरूप होकर भी, अपनेको जाननेमें (आत्मज्ञानमें) प्राय: असमर्थ (दुर्बल) रहता है।

जें जाणणेचि की ठायी।
नेणणे कीर नाही।
परी जाणणे म्हणोनिया हि।
जाणणे कैचे ? ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिसे जाननेमें 'न जानना' नामकी कोई चीज ही नहीं, उसे जाननेकी इच्छा भी हो तो और कैसे जाना जाय ?

या लागी मौनेंचि बोलिजे।
काही न होनि सर्व होई जे।
नव्हता लाहिजे।
कांहीच नाही ॥

इस अवस्थामें मौन होना ही बोलना है, कुछ न होकर भी सब होना है और कुछ न पाकर भी सब कुछ पाना है।

जें कोणाचे नव्हतेनि असणे।
जे कोणाचे नव्हता दिसणे।
कोणाचे नव्हता भोगणे।
केवल जो ॥

किसीका न होकर भी जो होना है, ज्ञेय विरहित जो ज्ञान है और आसक्ति-शून्य जो भोग है (वही तुम हो—)

तया पुत्र तू वटेश्वराचा।
रवा जैसा कापुराचा।
चांगया मज तुज आपणयाचा।
बोल ऐके ॥

हे प्यारे चांगदेव (चांगया), तुम तो वटेश्वरके पुत्र हो (परब्रह्म हो), जैसा कर्पूरसे अभिन्न कर्पूरका कण। तुम मेरी बातें कुछ सुन लो।

ज्ञानदेव म्हणे।
तुज माझा बोल ऐकणे।
ते तलहाता तली मिठी देणे।
जया परी ॥

श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं, हे चांगदेव, मेरा और तुम्हारा संवाद ऐसा है कि जैसे हथेलीको उसी हथेलीसे पकड़ लेना (अर्थात्, हमसे कुछ अलगाव है ही नहीं)।

बोलेंचि बोल ऐकिजे।
स्वादेंचि स्वाद चाखिजे।
का उजिवंडे देखिजे।
उजिडा जेवि ॥

चांगदेव, हमारा यह संवाद ऐसा ही है कि जैसे शब्द ही स्वयंको (शब्दको) सुन लें, स्वाद ही अपना स्वाद ले अथवा उजियाला अपनेको ही प्रकाशित करे।

सोनिया वरकल सोने जैसा।
का मुख मुखा हो आरिसा।
मज तुज संवाद तैसा।
चक्रपाणि ॥

श्री चांगदेवजीको 'चक्रपाणि' पुकारकर सन्त लिखते हैं, हमारा यह संवाद वैसा ही है, जैसे सोनेपर सोना घिसा जाय, अथवा दर्पणमें अपना ही मुख देखा जाय।

श्री ज्ञानेश्वरजीका सख्यभाव देखिये—

सखया तुझेनि उद्देशे।
भेटावया जीव उल्लासे।
की सिद्ध भेटी विसकुसे।
ऐसिया विहे ॥

हे मेरे मित्र, तुझे मिलनेके लिए मेरा भी जी (जीव) तरस रहा है, लेकिन डर इस बातका है कि हमारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनादि सिद्ध मिलन (सिद्ध भेंट) लौकिक मिलनसे विघटित न हो जाय।

छेवो पाहे तुझे दर्शन।
तंव रुपा येवो पाहे मन।
तेथ दर्शना होय अवजनन।
ऐसे गमो लागे॥

तुम्हारे दर्शनकी इच्छा जब उदित होती है, तब मेरा मन स्वरूपमें लीन होने लगता है (शब्दशः मन आकार लेने लगता है)—और ऐसा लगता है कि दर्शनकी इच्छा टिकेगी नहीं।

चांगया तुझेनि नांवे।
करणे, न करणे, न व्हावे।
हे काय म्हणो,
परि न घरवे। मी पण हे॥

हे प्यारे चांगदेव, तुम्हारे लिए कुछ करना, या न करना ये दोनों बातें मैं नहीं सोच सकता और तो क्या कहूँ, मेरा 'मैं पना' (मीपण) मी मैं खो बैठता हूँ।

लवण पाणियाचा थावो।
माजि रिगोनि गेले पाहो।
तंव तेचि नाहीं मा काय घेवो।
माप जला ?॥

नमक अगर जलका तल ढूँढनेके लिए भीतर उतरे तो क्या वह शेष रहकर कभी जलका नाप ले सकेगा ?। उसी तरह—

तैसे तुज आत्मयाते पाही।
देखो गेलिया मोचि नाही।
तेथे तू कैचा काई।
कल्पावया जोगा॥

चांगदेव, तू तो मेरे आत्मा हो। तुझे देखनेके लिए मैं चलूँ तो मैं स्वयं शेष नहीं रहूँगा। क्या (मुझसे अलग) तुम्हारे अस्तित्वकी कुछ कल्पना भी हो सकती है ?।

तेवि तूंने मी गिवसी।
तेथे 'तूपण' "मी पणे" सी।
उखने पडे ग्रासी।
भेंटी चि उरे॥

जब मैं तुझसे (मनोमन) मिलनेका प्रयास करता हूँ 'मैं पना' और 'तू पना' दोनोंका लोप हो जाता है और सिर्फ हमारा (अनादि सिद्ध) मिलन ही शेष रह जाता है। इसी मिलनका अनुवाद ही मानो इस पत्रके रुपमें मैं पेश कर रहा हूँ।

हमारा मिलन वैसा ही है जैसी मिठासपनका आस्वाद ले, अथवा दर्शक अपनेको ही दर्पणमें देख ले।

इयेने करुनि व्याज।
तू आपणयाते बुझ।
दीप दीपपणे पाहे निज।
आपुले जैसे॥

मेरी विनती है कि इन विचारोंके सहारे तू स्वयंको समझ ले, जैसा दीपक अपने प्रकाशमें ही अपनेको देखता है।

जालिया प्रलयी एकार्णव।
अपार पाणियाची धांव।
गिली आपला उगव।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तैसे करी ॥
ज्ञानदेव म्हणे नामरूपे।
विण तुझे साथ आहे आपणपे।
ते स्वानंद जीवन पै।
सुखिया होई ॥

श्री ज्ञानेश्वरजी कहते हैं, महाप्रलयमें पानी जैसे अपने उद्गम-स्थानको निगल लेता है, इसी तरह तू जान ले कि तुम्हारा अस्तित्व नाम-रूपसे न्यारा है और स्वानन्द जीवनका अनुभव पाकर तू सुखी हो जा। हे चांगदेव, जब ज्ञानकी सम्पदा घर आती है तब वेद्य और वेदकत्व इनसे न्यारा पद प्राप्त होता है।

श्री ज्ञानेश्वरजीकी अजोड़ गुरु भक्तिकी झलक श्री चांगदेव-पैसठीमें भी दिखायी देती है। एक श्लोकमें वे लिखते हैं—

चांगदेवा, तुझेनि व्याजे।
माउलिया श्री निवृत्तिराजे।
स्वानुभव रसाल खाजे।
दिधले लोभे ॥

हे प्यारे चांगदेव, तुझे निमित्त बनाकर मेरी गुरुमाऊलीने--(सद्गुरुरुपिणि माँने)--श्री निवृत्तिनाथ महाराजने, (इस पत्रके रूपमें) स्वानुभवका रसमय भोजन बड़े प्यारसे परोसा है।

पैसठीके उपसंहारमें श्रीज्ञानेश्वरजी आत्मविश्वाससे लिखते हैं—

तियेपरी जो इया।
दर्पण करील ओविया।
तो आत्मा एव ढिया।
मिलेल सुखा।

इन ओवियोंके दर्पणमें जो अपनेको देखेगा उसे आत्म-सुखकी अवश्य प्राप्ति होगी।

इन ज्ञान और सद्भाव युक्त पंक्तियोंका श्री चांगदेवजी महाराजके अन्त:करणपर कितना गहरा असर पड़ा होगा, इसकी कल्पना हम कर सकते हैं। श्री ज्ञानेश्वरजीके परम पावन दर्शनकी उनकी उत्कण्ठा और तीव्र हुई और शेरपर सवार होकर, अपने शिष्य परिवारके साथ वे आलन्दीके ओर चल पड़े।

श्री चांगदेवजी जब गाँवके समीप पहुँचे तब श्री ज्ञानेश्वरजी अपने भाई बहनके साथ भीतपर धूपमें बैठे थे। श्री चांगदेवजीसे मिलनेके लिए वे स्वयं तो उत्कण्ठित थे ही। उनकी उत्कण्ठा शायद उस भीतने जान ली और वह सचेतन होकर, इन चारों भाइयोंको लेकर श्री चांगदेवजीके लिए आगे बढ़ी।

श्री ज्ञानेश्वरजी और श्रीचांगदेवजीका मिलन महाराष्ट्रके सांस्कृतिक इतिहासमें सुवर्णाक्षरोंसे लिखा गया है और इस महान् मिलनका साक्षी बननेका अनोखा भाग्य श्री चांगदेव पैसठी को प्राप्त हुआ है।

श्री ज्ञानेश्वरजीका श्री चांगदेवजीके प्रति बड़ा स्नेहभाव था, लेकिन उन्होंने ऐसी लीला की कि श्री चांगदे-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवजी महाराजको दीक्षा अपनी छोटी वहन श्री मुक्तावाईसे दिलवायी।

इसी सम्बन्धमें एक सुन्दर आख्यायिका महाराष्ट्रमें प्रचलित है—

एक दिन १४—१५ सालकी श्री मुक्तावाई आलन्दीमें श्री इन्द्रायणीमें स्नानकर रही थीं। प्रसंगवशात् श्री चांगदेवजी महाराज उसी रास्तेसे निकले और श्री मुक्तावाईको देखकर बड़े संकोचमें पड़ गये।

श्री मुक्तावाई बड़ी ज्ञानी थीं। वह समझ गयीं और वादमें उसने श्री चांगदेवजीसे पूछा, 'क्या स्त्री-पुरुष भेद अभी तक नष्ट नहीं हुआ ?'

श्री चांगदेवजी माता मुक्तावाईके चरणोंमें झुक गये। एक चौदह वर्षीय के वाला, श्री चांगदेव जैसे योगिराजका गुरु वननेका यह चमत्कार शायद ही किसीने देखा होगा।

श्री ज्ञानेश्वरजी महाराजने आलन्दीमें सञ्जीवन समाधि लेनेके पश्चात् उनके छोटे भाई श्री सोपानदेव महाराजने सासवडमें समाधि ली। श्री ज्ञानेश्वरजी महाराजका वियोग श्री चांगदेवजी शायद सह नहीं सके और सिर्फ दो महीनेके भीतर माघ वदी त्रयोदशीके दिन उन्होंने पुनतांवा में सजीवन समाधि ग्रहण की। अपनी गुरु माता श्री मुक्तावाईके करकमलों द्वारा समाधि मिलनेका सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ।

योगिराज श्री चांगदेवजी को अपने प्यारसे सरावोर करनेवाले श्री ज्ञानेश्वरजी धन्य थे और उपदेश करके श्री योगिराजका जीवन परिपूर्ण वनानेवाली माता मुक्तावाई भी धन्य थीं।

—श्री कृष्णार्पणमस्तु—

रुक्मिणी जीसे भगवान्ने कहा कि तुमने सब राजाओंको छोड़कर मुझे पति क्यों वनाया ? तव यह वोलीं, 'महाराज ! जिस परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छावाले सम्राट् एवं राजा लोग अपने सम्पूर्ण राजवैभवको तिलाञ्जलि देकर चले जाते हैं, उन आपकी तुलना इन राजाओंके साथ नहीं हो सकती। आप तो राजराजेश्वर साक्षात् श्रीभगवान् ही हैं। आप साक्षात् पूर्णब्रह्म हैं। इसलिए मैंने सब ओरसे चित्त हटाकर उसे आप भगवान् में ही लगा दिया।' इसी प्रकार हम लोगोंको भी अपना मन सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर केवल श्री भगवान्को ही अर्पण कर देना चाहिए।

—श्री उड़िया बाबा जी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुस्कान——रोनेसे आसान

फरहत कमर

वटला हाउस, नई दिल्ली–11००2५

मैंने अपने मित्रकी सदा सहायताकी परन्तु वह तो सब कुछ भुला बैठा।

पप्पूके पिताजीके लिए तो जान भी दे दी, फिर भी उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

पड़ोसिनने अपने लड़केके विवाहपर हमको आमन्त्रित नहीं किया जबकि हमने ....!

इस प्रकारकी शिकायतोंके अवसर आते ही रहते हैं परन्तु कितने लोग ऐसे हैं जो साफ बात करके गलतफहमी दूर कर लेते हैं?

अधिकतर व्यक्ति तो कुढ़ते सुलगते ही रहते हैं।

और फिर——घृणा, प्रतिशोध, हानि।

एक बार पड़ोसीने मांगनेपर बिजलीका पंखा नहीं दिया था——अब आप हैं कि उस दुःखदायी यादको भूलते ही नहीं। न जाने अपने मस्तिष्ककी कितनी शक्ति और अपने शरीरकी कितनी ऊर्जा आपने इसी यादके लिए नष्टकर दी। सामान्यतः आलोचना, घृणा; उपेक्षा तथा असफलताके घाव लोग ऐसे ही पालते रहते हैं जैसे लोग तोता पालते हैं।

क्या इससे कोई समस्या हल होती है?

लोग जानते हैं कि इस प्रश्नका उत्तर 'नहीं' है, परन्तु फिर भी वह अपना दृष्टिकोण नहीं बदलते और अपना रक्त जला-जलाकर अपना ही बहुत कुछ खोते रहते हैं। वे शक्तियाँ और वे क्षमताएँ नष्ट होती रहती हैं जिनसे न जाने कितनोंको लाभ पहुँचाया जा सकता है। मानसिक रूपसे इसका परिणाम होता है—उदासी तथा आत्मग्लानि। शारीरिक रूपसे अपच, सिरदर्द, थकान, दुर्बलता आदिका सामना करना पड़ता है। उलझन चाहे चेतनमें हो या अवचेतनमें; रक्तप्रवाह तथा स्नायुमण्डलपर बुरा प्रभाव डालती है और नयी-नयी पीड़ाएँ जन्म लेने लगती हैं। मन ही मन कुढ़ें या प्रकट रूपसे क्रोधका प्रदर्शन करें। आमाशयमें अम्लकी मात्रा बढ़ जाती है। मन उदास हो जाता है और समय बीतता प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थितिमें कड़वी बातें मुँहसे निकल जाना तथा दूसरोंसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन-मुटाव हो जाना स्वाभाविक ही है।

हम प्रायः अपनी गलतियोंसे दृष्टि हटाकर अपने आपको क्षमाकर लेते हैं; परन्तु दूसरोंकी गलतियोंको सख्त पकड़ करते हैं। संसारमें वास्तवमें निर्दोष व्यक्ति बहुत कम होते हैं, परन्तु अपने दोषोंकी जिम्मे-वारी दूसरोंपर सभी थोपनेका प्रयत्न करते हैं। जरा ध्यान दें तो दूसरोंके दृष्टिकोण, दूसरोंकी पसन्द-नापसन्द और दूसरोंके आत्म-सम्मानकी उपेक्षा करनेका अधिकार हमको प्राप्त नहीं। वे भी तो हमारी भाँति इन्सान हैं, पड़ोसीने विजलीका पंखा माँगनेपर नहीं दिया, ठीक है—परन्तु आप भी तो अपनी चीजें उधार देना पसन्द नहीं करते।

और यदि संसारमें बुराई है भी तो आप उसे बुराईसे तो नहीं जीत सकते।

मानव-मनमें एक ही समयमें भिन्न भावनाएँ नहीं रह सकतीं। यदि आप हँसना चाहते हैं तो आपको रोना बन्द करना पड़ेगा। यदि आप प्रेमकी इच्छा रखते हैं तो घृणा आपको छोड़नी पड़ेगी।

अपनेको दूसरोंसे बड़ा समझकर यदि हम घृणा तथा प्रतिशोधके सागरमें कूद पड़ें तो प्रायः कोई न कोई भयानक भँवर हमको अपने चक्करमें ग्रस्त कर लेता है: दूसरी ओर सहानुभूति और प्रसन्नचित्ततासे अपार आनन्दके स्रोत फूटते हैं। किसीको क्षमाकर देनेके पश्चात् एक शक्तिकी अनुभूति होती है जो आत्माके लिए श्रेष्ठ टानिकका काम करती है। दूसरोंको क्षमा करके जीतका आभास होता है और इसी आभाससे असीम प्रसन्नता मिलती है।

जीवनमें कड़वाहटें अवश्य आयेंगी। इनका कोई निदान नहीं, सिवा इसके कि कड़वाहटोंकी मुसकान की मिठास मिलकर पी लिया जाये। हर दुःखद यादका भूल जानेका प्रयत्न किया जाये। बुद्धिमत्तापूर्ण यह आदत डाली भी जा सकती है। क्योंकि मानव-मन इस नियमपर कार्य करता है। उसको जिस राहपर मोड़ा जाये आसानीसे मुड़ जाता है।

वास्तवमें प्रसन्न रहना हमारे लिए अति आवश्यक है। सद्भावनाएं हमारे लिए अमृतका काम करती हैं जबकि दुर्भावनाएँ विषका। यह कोई कल्पना नहीं, वल्कि वैज्ञानिक सत्य है। क्योंकि हमारे सिरके पिछले भागमें पिचवैटरीलैण्ड (ग्रन्थि) भिन्न-भिन्न प्रकारकी मनोभावनाओंसे प्रभावित होता रहता है। यह ग्रन्थि हमारे शारीरिक तथा मानसिक कार्योंपर नियन्त्रण रखती है क्योंकि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें यह शरीरमें फैली अनेक ग्रन्थियोंको भिन्न-भिन्न प्रकारके हार्मोन्स पैदा करनेकी आज्ञा देती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यही हार्मोन्स हमारे शरीरमें रासायनिक परिवर्तन करके हमको भिन्न भिन्न अनुभूतियोंका आभास देते हैं। आजका चिकित्सा-विज्ञान इस बातको पूर्ण रूपसे मान चुका है कि लगभग ६०% रोगोंके पीछे हमारी मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ ही काम करती हैं। मनोभावनाओंका खेल निराला है तो फिर क्यों न हम मनको प्रसन्न रखें, क्यों न मुसकुरायें ? केवल मुसकुराना रोनेसे आसान भी है, क्योंकि हँसनेसे चेहरेकी ११ मांस-पेसियोंपर दबाव पड़ता है जबकि रोनेसे शरीरकी ३०० से अधिक मांसपेशियोंपर कुप्रभाव पड़ता है।

भ्रूणका विकास

महाराष्ट्र मेडिकल जर्नलमें विज्ञानके प्रसिद्ध विद्वान् डा० वर्तकने महाभारत और श्रीमद्भागवतके अध्ययनके बाद भ्रूणके विकासके सम्बन्ध-में आजसे लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व महर्षि कपिल तथा अन्य ऋषियों-की जिस खोजकी चर्चा की है, वह महत्त्वपूर्ण एवं चौंकानेवाली है, पाश्चात्य विद्वान् भ्रूणके सम्बन्धमें अब जो जानकारी प्राप्त कर रहे हैं, डा० वर्तकके अनुसार भारतीय ऋषियोंने उसका पता आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व ही लगा लिया था, पाश्चात्य विद्वानोंकी जानकारी ईसासे लगभग चार सौ वर्ष पूर्व अरस्तूके अध्ययनतक ही सीमित रही। विदेशी प्रभावके कारण भारतीय विद्वानोंने अपने शास्त्रोंका अध्ययन करनेके बजाय पश्चिमकी श्रेष्ठताके सामने सिर झुकाकर उसे स्वीकार कर लिया, लेकिन डा० वर्तकने इस वैचारिक दासताको तोड़नेका साहस किया और महाभारत तथा भागवतके उदाहरण देकर बताया है कि पश्चिमके वैज्ञानिक अब उसी जानकारीकी पुष्टि कर रहे हैं, जिसका पता भारतीय ऋषियोंने हजारों साल पहले ही लगा लिया था। डा० वर्तकके अनुसार महाभारतका रचनाकाल ईसासे लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व और श्रीमद्भागवतका चार हजार वर्ष पूर्व है।

डा० वर्तककी इस नयी खोजसे न केवल भारतीय विज्ञान और भारतीय ऋषि सम्मानित हुए हैं, बल्कि इससे भारतीय शास्त्रों, पुराणों और वेदोंके सूक्ष्म अध्ययनकी नयी प्रेरणा भी मिलती है। निश्चय ही यह दायित्व सरकार और वैज्ञानिकोंका है कि वे भारतीय ज्ञान भण्डार-की महान् उपलब्धियों को प्रकाशमें लाये और भविष्यमें नयी सफल-ताओं के लिए भारतीय विचार-भूमि पर खड़े होकर प्रयत्न करें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तिरुवल्लुवरकी जैन-भावना

श्री इन्दरराज वैद 'अधीर'

संस्कृतकी तरह तमिल भी भारतकी अत्यन्त प्राचीन और समृद्ध भाषा है, दो सहस्र वर्ष पूर्वके सस्कृत-तमिल-साहित्यका अध्ययन उस कालके क्षेत्रीय नागरिक जीवनको अभिव्यक्त ही नहीं करता, उससे भा सैकड़ों वर्ष पहलेकी हमारी संस्कृतिके भव्यतम रूपको उजागर करता है। लगभग दो हजार वर्ष पहले तमिलमें एक ऐसे नीति-ग्रन्थकी रचना हुई, जिसपर तमिल जातिको आजतक गर्व है और जिसे वह वेदों और आगमोंकी तरह पवित्र, महान् और स्तुत्य मानती रही है। यह ग्रन्थ है, तिरुकुरल (तिरुक्कुरल)।

तमिलभाषी तिरुकुरलको अपनी भाषाका वेद मानते हैं। धर्म, अर्थ और कामकी सम्यक् व्याख्या ही तिरुकुरलका विवेच्य है। जब जीवनमें सच्चाई और ईमानदारीके साथ इन तीनोंका निर्वाह होता है तो मोक्षके द्वार स्वत: खुल जाते हैं। कुरलकारने इसी जीवन-दर्शनको प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूपसे अपने एक हजार तीन सौ तीस 'कुरलों' (मुक्तकों) के माध्यमसे प्रस्तुत किया है।

संन्यासीकी बेजोड़ देन !

तिरुकुरलके रचयिता तिरुवल्लुवरके नाम, जाति, वंश, जन्म स्थान आदिके सम्बन्धमें कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फिर भी बहु-प्रचलित धारणाके अनुसार इन्हें मद्रास नगरके मइलापुर नामक स्थानका वासी माना जाता है। ये जातिके जुलाहे थे और पत्नीके स्वर्गवासी होनेके उपरान्त संन्यासी हो गये थे। तिरुवल्लुवरने अपने कुरलोंके माध्यमसे जीवनकी अनुभूतियोंको व्यक्त करनेमें जो असाधारण सफलता पायी है, उसकी जोड़का दूसरा उदाहरण कदाचित् ही विश्व-साहित्यमें कहीं और मिले। 'सतसैयाके दोहरे'की तरह वल्लुवरके कुरल भी अपनी मार्मिकता और भाव-प्रवणता तथा अनुभूतिकी तीव्रता और सत्यताके लिए अद्वितीय है।

कुरल तमिलका एक विशिष्ट छन्द है। दोहेकी तरह इसमें भी दो ही चरण होते हैं, पहले चरणमें चार पद और दूसरेमें तीन पद होते हैं, इस प्रकार सात पदोंकी लघु प्राज्ञोक्तियोंमें वल्लुवरने ईश्वर, धर्म, आत्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजतन्त्र, प्रेम, गार्हस्थ्य जीवन आदि विविध विषयोंकी महत्तम अभिव्यक्ति की है।

तिरुवल्लुवरने कुरलोंको तीन विभागोंमें बाँटा है—ईश्वर और अध्यात्म सम्बन्धी; अर्थ और राजनीति सम्बन्धी तथा दाम्पत्य-प्रेम सम्बन्धी। उन्होंने ईश्वर और धर्म सम्बन्धी अपने उद्गारोंसे टीकाकारों और विद्वानोंके सामने एक समस्या खड़ी कर दी है। मैथिल-कोकिल विद्यापतिकी तरह सन्त तिरुवल्लुवरकी भक्ति भावनाका आलम्बन आजतक अनिश्चित है। यह अभीतक तय नहीं किया जा सका कि वे किस धर्मको माननेवाले थे, उन्होंने किस ईश्वरकी आराधना की और उनके अध्यात्मका स्रोत क्या था? वे वैदिक धर्मके अनुयायी थे, या जैन-शासनको स्वीकारने वाले? ईसाई और बौद्धपण्डित सन्त तिरुवल्लुवरको अपना पक्षधर सिद्ध करते हैं। वेदों, वैदिक देवताओं, ब्राह्मणों और उनके आचरणोंके प्रति व्यक्त उनके उद्गार उन्हें हिन्दुत्वके निकट ले जाते हैं। लेकिन, उनकी आदि-भगवान्-आराधना, वीतराग-भावना और अहिंसा-साधनाको देखते हुए यह प्रमाणित करना दुष्कर नहीं है कि वे जैन थे और उन्होंने भगवान् अर्हत्को अपना आराध्य स्वीकार किया था। तिरुवल्लुवरकी जैन-भावना ही प्रस्तुत लेखका प्रतिपाद्य है।

जैन दर्शनमें जीवोंका वर्गीकरण इन्द्रियोंके आधारपर ही किया गया है। इससे 'तोल्गापियम्'का एक जैन विद्वान्की कृति होना सिद्ध होता है। तिरुकुरलके बादकी तमिलकी साहित्यिक कृतियोंपर तो जैन प्रभाव असंदिग्ध रूपसे है ही।

तमिलका 'शिलप्पधिकारम्' काव्य जैन विद्वान् 'इलंगोवड़िगल्' की रचना है। इलंगोका समय जैन धर्म और जैन विद्वानों द्वारा रचित साहित्यके उत्कर्षका समय माना जाता है। नालडियाद, चिन्तामणि, नीरविरुत्तम, मेरुमन्दर पुराण आदि अनेक उत्कृष्ट तमिल कृतियोंके अध्ययन-अनुशीलनसे तमिल-प्रदेशमें श्रमण-संस्कृतिके व्यापक प्रचार और प्रभावका पता चलता है।

तमिलकी जैन-साहित्य परम्परा वल्लुवरको जैन मानती है। 'शिलप्पधिकारम्'के रचयिता द्वारा कुरलको अपने काव्यमें उद्धृत करना और जैन-ग्रन्थ नीलकेशिके टीकाकार द्वारा तिरुकुरलको अपना वरेण्य ग्रन्थ स्वीकार करना, तिरुकुरल और जैनत्वके सम्बन्धोंकी अभिन्नताकी ओर संकेत करते हैं। अतः एक ऐसे समयमें, जबकि जैन-धर्म दक्षिणपथकी तमिल-भूमिमें अपनी जड़ें स्थिर कर चुका था और जैन विद्वानों द्वारा तमिल-भाषाके माध्यमसे धर्म और साहित्यकी उत्कृष्टतम कृतियोंका सृजन अपने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूरे विकासपर था, तब कुरलकारको जैन-सिद्धान्तोंसे अप्रभावित मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

लेकिन, अहिंसापर जितना बल और उसे जितना प्राधान्य जैन-धर्मने दिया, अन्य किसी धर्मने उतना नहीं दिया। 'अहिंसा परमो धर्मः' जैन-धर्मका मूल मन्त्र है। तिरुवल्लुवरने भी अहिंसाको श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है। देखिये—

ओन्राग नल्लद, कोल्लामइ, मर्रदन्
पिंजारप् पोटयामइ नन्रु।

(कुरल ३२३)

(अर्थात् किसीको न मारना ही प्रथम धर्म है। झूठ न बोलनेका स्थान उसके बाद है।)

कवि तिरुवल्लुवरने अहिंसाको अत्यधिक महत्त्व दिया है। उनके समस्त अध्यात्म-वृत्तका केन्द्र-बिन्दु अहिंसा ही है। अहिंसाके सम्बन्धमें और वैदिक यज्ञोंके विरोधमें उन्होंने कहा।

'हजारों यज्ञोंकी अपेक्षा एक जीवको न मारना अधिक उत्तम है। संसार उसीकी पूजा करता है जो न किसी जीवकी हत्या करता है और न मांसभक्षण करता है', यथा—

अविसोरिन्दु आथिरम्
वेट्टलिन् ओन्रन्
उयिरसेसत्तु उण्णामइ नन्रु।
कोल्लान्पुलालइ मरुत्तानइक्

(कुरल २५९-२६०)

कुरलकारने अपने ग्रन्थके आरम्भमें किस ईश्वरकी आराधना की है, उसीकी आराधना कुरलके परवर्ती महाकाव्य 'शिलप्पधिकारम्'में एक जैन संन्यासिनी कौन्ती द्वारा इस रूपमें की जाती है—

'जिसने राग, द्वेष और मोहको जीत लिया है, मेरे कर्ण उसके अतिरिक्त अन्य किसीका भी उपदेश नहीं सुनना चाहते। मेरी जिह्वा कामजेता भगवान् के १००८ नामोंके सिवा अन्य कुछ भी कहना नहीं चाहती। मेरी आँखें उन स्वयम्भूके चरण-युगलके सिवा अन्य कुछ भी देखना नहीं चाहतीं। मेरे दोनों हाथ अर्हत्के सिवा किसी अन्यके अभिवादनमें कभी नहीं जुड़ सकते। मेरा मस्तक फूलोंके ऊपर चलनेवाले अर्हत्के सिवा अन्य कोई फूल धारण नहीं कर सकता। मेरा मन भगवान् अर्हत्के वचनोंके सिवा अन्य किसीमें भी नहीं रमता।'

तिरुवल्लुवरने अपने प्रथम कुरलमें कहा—

अगर मुदलएलुतैल्लाम्
आदि भगवन् मुदर्चे उलगु।

उपर्युक्त प्रथमोक्तिमें प्रयुक्त 'आदि भगवन्' बहुत सम्भव है, प्रथम जैन तीर्थङ्कर आदिनाथको ही बोधित करता हो, क्योंकि आदिनाथके बारेमें यह अतिशय प्रचलित है कि वे फूलोंपर चलते हैं, 'शिलप्पधिकारम्'की पात्रा कौन्ती भी उसी अर्हत्की आराधना करती है, जो फूलोंपर चलते हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और सन्त तिरुवल्लुवरने भी अपने प्रभुकी कमलोंपर गमन करनेवाला बताया है यथा :

मलर् मिसइ एगिनान् माणड़ि
सेरन्दार्
निलमिसइ नीड़ु,वाल् वार । कु. ३

अर्थात्, मानस-सुमनोंपर चलने-वाले प्रभुके चरणोंकी शरणमें जो जाते हैं, वे सांसारिक दुःखोंसे ऊपर उठ जाते हैं।

जैन-परम्परामें यह अर्हत्‌का अतिशय है। भक्तामर स्तोत्रके प्रणेता श्री मानतुंगाचार्यने अपने छत्तीसवें श्लोकमें इसी अतिशयको प्रकट किया है कि जिनेन्द्र जहाँ-जहाँ चरण धरते हैं, वहाँ-वहाँ देवता कमलोंकी पंक्ति रचते जाते हैं। यथा:

उन्निद्रहेमनवपंकज पुंजकान्ति,
पर्युल्लसन्नमयूख शिखाभिरामौ।
पादोपदानि तव यत्र जिनेन्द्रधत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्प-
यन्ति ॥

अतः स्पष्ट है कि कुरलकारने जिन 'आदि भगवन्'की आराधना की है, वे आदिनाथ ही हो सकते हैं, कोई अन्य नहीं।

तमिल-वृत्ति 'आदिनादरपिल्लं' तमिल्‌की भूमिकामें भी इसी आशयके विचार व्यक्त किये गये हैं।

●

जिन्दगी

ज़िन्दगीकी उम्र ही है ज़िन्दगी,
जिन्दगीको कौन ऐसा कह गया ?
ज़िन्दगीका वही पल है ज़िन्दगी,
ज़िन्दगीको जो कि जिन्दा कर गया।

याद

कर सका है खुदा भी क्या वह कभी,
कर दिखाया जो ख़ुदाकी यादने।
यादका राजे करिश्मा क्या कहें,
क़ैद कर रक्खा ख़ुदाको यादने।

वक्त

वक्तको खोटा कहा इंसानने,
वक्तको कोसा सदा इंसानने।
वक्तसे भी भूल क्या मुमकिन कभी,
स्वप्नमें सोचा कभी इंसानने।

—रामाश्रय दीक्षित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्द-जयन्ती

प्रवचन : अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
संकलन : श्रीमती सतीशबाला महेन्द्र जेठी

: १ :

श्रीमद्भागवतमें जन्मकी व्याख्या बहुत सीधीसादी है। धनीका जन्म किस दिन हुआ है ? किस दिन उसने धनका अभिमान किया ? सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, जनसंघी, कांग्रेसीका जन्म कब हुआ ? जिस दिन उसने अपनेको उस पार्टीके साथ दाखिल कर दिया। भागवतमें जन्मकी व्याख्या ऐसे ही है—जिस दिन तुमने अपने मैं-को दृश्यसे एक मान लिया, उस दिन तुम्हारा जन्म हो गया। जन्म हुआ दृश्यका और उसको मैं मानकर तुम जन्मवाले बन गये। भागवतमें व्याख्या है—

जन्म त्वात्मतया पुंसः
सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहु-
र्यथा स्वप्नमनोरथौ॥

आप स्वप्नमें दीखनेवाले एक शरीरको मैं मानके व्यवहार करते हैं—पचास वरसका शरीर है, छह फुट लम्बा है तो स्वप्नमें आप जिस-जिस शरीरको अपना मैं मानते हैं, पचास वरसका; क्या वह पचास वरसका है ? जिसको आप मानते हैं साढ़े तीन हाथका क्या वह साढ़े तीन हाथका है ? जिसको आप मानते हैं डेढ़ मन, दो मन वजनका। क्या आप डेढ़-मन दो मनके हैं वहाँ ? तो जैसे स्वप्न-कालमें और मनोरथ-कालमें अपनी कल्पनामें आये हुए शरीरको मैं मान-लिया जाता है, इसी प्रकार इस दृश्य शरीरको सम्पूर्ण रूपसे मैं मान लेनेका नाम जन्म है। जो लोग भागवत पढ़ते हैं, वे ढूंढ़ें। भागवतमें कहा हुआ है—

जन्म त्वात्मतया पुंसः
सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहु-
र्यथास्वप्नमनोरथौ॥

एक जगह जन्म और मृत्यु दोनोंकी व्याख्या एक ही श्लोकमें की हुई है—

द्रव्योपलब्धि स्थानस्य
द्रव्येक्षाऽयोग्यता यदा।
तत्पञ्चत्वम् अहं मानात्
उत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्॥

यह दुनियाको देखने, मिट्टी, पानी, आगको देखनेकी जो शक्ति है, अपने शरीरमें जहाँ यह दुनिया मालूम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पड़ती है, यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह मिट्टी है, यह पानी है, यह आग है। जिस जगहपर यह मालूम पड़ता है, जब उसमें द्रव्येक्षाऽयोग्यता यदा द्रव्य दर्शनकी योग्यता नहीं रह जाती तब पञ्चत्वम्—उसका नाम है मृत्यु।

अहं मानात् उत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्—

किसी भी विषयको मैं मान बैठना, किसी भी द्रव्यको, किसी भी वस्तुको मैंके रूपमें देखना, इनका नाम है उत्पत्ति। इसका नाम है जन्म। ये दोनों भागवतके श्लोक है।

तो धनीका जन्म किस दिन हुआ? जिस दिन उसने अपनेको धनका मालिक माना, धनके साथ मैंको जोड़ा। विद्वान् कब हुआ? जब विद्याके साथ मैंको जोड़ा। बुद्धिमान् कब हुआ? जब बुद्धिके साथ मैंको जोड़ा। मनुष्य कब हुआ? जब इस मनुष्याकार शरीरके साथ अपने मैंको जोड़ा। सब लोग दूसरेका जन्म देख-देख करके अपने जन्मका अनुमान करते हैं। कितना उल्टा है यह। यह किसी अनुमानकी पद्धतिमें नहीं कि हम देखें दूसरेको और अपने बारेमें अनुमान करें। अनुमान परोक्ष वस्तुके सम्बन्धमें होता है, प्रत्यक्ष वस्तुके सम्बन्धमें नहीं होता। अन्यके सम्बन्धमें अनुमान होता है, स्वके सम्बन्धमें अनुमान नहीं होता, कि शायद मैं मनुष्य हूँ।

तो तुम दूसरोंका शरीर जन्मते मरते देखते हो और अपने शरीरके जन्मनेका अनुमान कर लेते हो। अपना जन्म तो किसीने देखा ही नहीं है। है कोई माईका लाल दुनियामें, जिसने अपनी आँखसे या अपनी बुद्धिसे जन्मके समय जन्मका प्रत्यक्ष किया हो? इसीसे आत्माको अजन्मा बोलते हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

तो किसीने कहा कि यह किसी दूसरेका वर्णन होगा, कोई सातवें आसमानमें परमात्मा होगा उसका वर्णन होगा। अरे भाई 'अयं' पड़ा है बीचमें। इसका जन्म नहीं है, इसका मरण नहीं है। यहाँ तक कि जितने वैष्णवाचार्य हैं, वे भी इस श्लोकको परमात्मपरक नहीं मानते हैं। इसमें परमात्माका वर्णन नहीं है। किसका है? जीवात्माका वर्णन है, ऐसा मानते हैं—सभी वैष्णवाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य श्रीनिम्बाकाचार्य। कारण क्या है? न हन्यते हन्यमाने शरीरे—शरीरकी मृत्यु होनेपर भी यह मरता नहीं है। वे कहते हैं परमात्माकी मृत्यु तो प्राप्त ही नहीं है, तो उस मृत्युके निवारण करनेका कोई हेतु नहीं है। प्राप्तौ-सत्याम् निषेधः। यदि परमात्माकी मृत्यु प्राप्त होती तो उसका निषेध किया जाता। परन्तु इस शरीरधारी-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की मृत्यु प्राप्त है इसलिए न हन्यते हन्यमाने शरीरे इस शारीरिक आत्माका वर्णन है। यह शारीरिक आत्मा है। जो शरीरके मरनेपर भी मरता नहीं है और शरीरके जन्म होनेपर इसका जन्म होता नहीं है। यह तो अपने स्वरूपको न जाननेके कारण, भ्रमवश अपनेको शरीर मानता है और शरीरके जन्मको और मरणको अपनेमें आरोपित करता है। जन्म मृत्यु अपना नहीं है।

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य

किसी भी द्रव्यको, किसी भी वस्तुको मैं के रूपमें समझनेका नाम जन्म है। बस वही भ्रम है, वही अध्यास है, वही अतस्मिन् तद्बुद्धि है। जो तुम नहीं हो, वह तुम अपने-को मान रहे हो, यही तुम्हारा जन्म है और फिर जिसमें मैं किया उसके साथ फंसे। चाहे धनवाला, चाहे मकान-वाला, चाहे स्त्रीवाला, चाहे पुरुष-वाला, चाहे जातिवाला, बस जिस चीजको अपने मैंके साथ जोड़ा और मैं को जिस चीजके साथ जोड़ा; चाहे जातिके साथ जोड़ो, मजहबके साथ जोड़ो। किस मजहबमें भगवान्‌ने तुमको पैदा किया? मजहब जुड़ गया। पीछे बपतिस्मा हो गया, खतना हो गया, संस्कार हो गया। सो अपनेको उस मजहबके साथ जब जोड़ा, तब हिन्दू मुसलमानको मारेगा और मुसल-मान हिन्दूको मारेगा। ये सारे जो उपद्रव हैं संसारमें, ये छोटी-छोटी चीजोंके साथ अपने मैंको जोड़ लेनेसे होते हैं। जितना युद्ध है; जितना वैमनस्य है, जितना संघर्ष है, जितना राग-द्वेष है, वह बहुत छोटी-छोटी चीजोंके साथ अपने मैंको जोड़ लेनेके कारण होता है। वेदान्त कहता है जिसको तुम मैं समझ रहे हो वह तुम्हारा मैं नहीं है। तुम्हारा मैं तो परमात्मासे एक है—दुनियासे जौक रिश्तये उल्फतको तोड़ दे। जिस सरका है यह बाल उसी सरमें जोड़ दे। यह जो तुम दुनियाको मैं मेरी समझ रहे हो, यही तुम्हारे लिए दुःखदायी है। जब तुम परमात्माको मेरा समझोगे, तो दुनियाका मेरापन छूटेगा और जब परमात्माको मैं समझोगे, ता दुनियामें जो मैंपना है सो छूटेगा। यह नहीं है कि पहले परमात्माको मैं समझ लें, फिर मेरापन छोड़ें। यह क्रम नहीं है। क्रम यह है कि दुनियामें जो मेरापन है, ममता है, वह अन्तःकरणकी अशुद्धि है। इसलिए परमात्माको, परमेश्वरको—मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई। मेरे तो गिरिधर गोपाल हैं दूसरा कोई नहीं है। जब मेराका पेट भगवान्‌से भरोगे तो तुम्हारा मेराके पेटमें संसार नहीं रहेगा और जब तुम अपने मैंका पेट परमात्मासे भरोगे तो तुम्हारे मैंके साथ संसार नहीं जुड़ेगा। सीधी-सीधी बात है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मृत्यु तो कुछ है ही नहीं। भागवतका श्लोक है—जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः।

किसी भी कारणसे इस दुनियाको जब हम भूल जाते हैं, जब काटनेपर भी होशमें नहीं आते हैं, जब मालिश करनेपर भी होशमें नहीं आते हैं, जब धड़कन फिर दुबारा नहीं चलती है, अत्यन्तविस्मृतिः। कमाया हुआ धन भूल गया, बनाया हुआ मकान भूल गया, ब्याही हुई स्त्री भूल गयी, पैदा किया हुआ बेटा भूल गया और जिन्दगी भर पाला हुआ यह शरीर भूल गया, मजहब भूल गया, जाति भूल गयी, धर्म भूल गया। बिल्कुल भूल जानेका नाम मृत्यु है। परन्तु भूलके बाद फिर याद आती है और यदि तत्त्वज्ञानसे, भगवान्की भक्तिसे मैं और मेरा संसार में न रहे, तुम्हारी बुद्धि कहाँ गिरती है? चील आसमानमें बहुत ऊँचे तक उड़ती है, परन्तु उसकी नजर मांसके टुकड़ेपर ही पड़ती है। वैसे मनुष्य चाहे जितना पढ़े, जितना लिखे, जितना विद्वान् हो, जितना बुद्धिमान् हो, जितना योग्य हो, उसकी जो दृष्टि है, वह शरीर और शरीरके सम्बन्धसे रहनेवाले जो दुनियाके पदार्थ हैं, पैसेमें ही महत्त्व बुद्धि होती है, सम्बन्धियोंमें ही महत्त्व बुद्धि होती है, शरीरमें ही महत्त्व बुद्धि होती है और जब तक संसारकी वस्तुओंमें महत्त्व बुद्धि रहती है, इनसे छूटना नहीं होता है। महत्त्वबुद्धि तो उस परमात्मामें होनी चाहिए जो हमसे कभी नहीं अलग होता है। परमात्माके प्रति जो महत्त्वबुद्धि है यह भक्ति है। परमात्माकी सेवाके लिए जो कर्म है उसका नाम धर्म है। परमात्माका जो ज्ञान है उसीका नाम तत्त्वज्ञान है। इसलिए अपने जीवनको परमात्माकी ओर ले चलनेका प्रयास करना मनुष्यका सर्वोपरि कर्त्तव्य है।

: २ :

यह जो जन्मका दिन मनाते हैं, यह जीवनके भूत और भविष्य दोनोंको जोड़नेकी एक कड़ी है। बहुत-सी बातें बीत चुकी हैं और कुछ आगे आनेवाली हैं। वर्तमानमें एक क्षण दीख गया। कुछ बीती हुई बातोंपर भी ध्यान दें और कुछ आगे आनेवाली बातोंपर भी ध्यान दें। समय ऐसा आगया है कि लोगोंकी दृष्टि केवल भौतिकतापर लगती जा रही है, उनको, जो स्थूल वस्तुएँ हैं संसारकी वही चाहिए हैं। यदि लोग बहुत सत्संग करते हैं तो आत्माके बारेमें भी कुछ सोचने लगते हैं। एक बातकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ओरसे लोगोंका ध्यान बिल्कुल हट गया है, यह जो भौतिक स्थूल संसार है और यह जो आत्मा है, इसके बीचमें एक आधिदैविक सृष्टि भी होती है, देवता भी होते हैं, ब्रह्मा, विष्णु महेश भी होते हैं, पाप, पुण्य भी होता है, स्वर्ग नरक भी होता है। उनपर ध्यान आजकलकी दुनियाका नहीं है। यह जो विदेशोंमें प्रचार करनेके लिए लग जाते हैं वे वहाँ या तो उनके प्रभावसे भौतिकताका वर्णन करने लगते हैं या तो आत्मा-आत्मा-की रट लगाते हैं। बीचमें जो चीज है उसको भूल जाते हैं और उस अधिदैवके विना, देवताके बिना, कोई काम ठीक-ठीक सम्पन्न नहीं होता है। जैसे हमारी आँख आपको देख रही है, आपका शरीर भौतिक है, हमारी आँख अध्यात्म है, आत्माके साथ जुड़ी हुई है। लेकिन बीचमें जो सूर्यकी रोशनी है, वह क्या चीज है? वह एक सूर्य देवता है। जब वह बीचमें होता है तब हमारी अध्यात्म आँख देखती है और तब अधिभौतिक वस्तु दिखायी पड़ती है। तो, संसार इतना ही नहीं है जितना हम मशीनोंसे देखते हैं, या जितना इन्द्रियोंसे देखते हैं। इससे भी गहराईमें, गहरे स्तरमें एक देवताओंका साम्राज्य होता है। लोग समझते हैं कि हम जो कुछ कर रहे हैं, उसको जब कोई आदमी नहीं देख रहा है तो कोई नहीं देख रहा है। वह तो हमारे दिलकी गहराईमें जो चीज है, उसको भी देखनेवाला और दिखानेवाला कोई-न-कोई होता है।

हम जन्मके प्रसंगमें आपको एक बात सुनाते हैं। एक अच्छे व्यापारी हैं, मुकुट भाई उनका नाम है, उनके बहुत बड़ी उम्र तक, पचपन साठ बरसतक पुत्र नहीं हुआ था, तो उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञके सम्बन्धमें खोज करवायी। यहाँके पण्डित तो भूल गये हैं कि पुत्रेष्टि यज्ञ क्या होता है, फिर दक्षिणसे मद्राससे पण्डित बुलाये गये और विधिपूर्वक पुत्रेष्टि यज्ञ हुआ। तो इतनी बड़ी उम्र-में फिर उनके पुत्र हुआ। उसका नाम ललित है। अब तो उसकी उम्र पच्चीस तीस बरसकी हो गयी होगी। अच्छा, तो यह प्रसंग आपको क्यों सुना रहे हैं? हमारे पितामह व्रजकी यात्रा कर रहे थे। व्रजमें अड़सठों तीर्थ हैं, वहाँ बद्रीनाथ हैं, वहाँ द्वारिका-नाथ हैं, वहाँ रामेश्वर है, वहाँ जगन्नाथजी हैं। बहुत करके तो वृन्दा-वनमें ही सारे तीर्थ हैं और ढूँढो, तो व्रज चौरासी कोसमें सब तीर्थ श्री राधाकृष्ण भगवान्‌ने बुलाये हैं कि तुम आओ, यहाँ बैठो, तुम आओ, यहाँ बैठो। हमारे गाँवकी तरफ पितामह, पिताके पिताका आजा क्यों बोलते हैं, शायद यह आप लोगोंको मालूम नहीं होगा। रामचन्द्रके पिताका नाम था दशरथ और दशरथके पिताका नाम था अज। तो रामजीके पितामहका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाम था अज। तो उसी अजसे हमारे गाँवके लोग जो अयोध्याके आस-पासके हैं, वे अपने पितामहको आजा बोलते हैं। अजके स्थान पर हैं। तो हमारे आजा पैदल जा रहे थे मथुरासे गिरिराज गोवर्धन। कार्तिक कृष्ण अमावस्या थी। उनके मनमें अपने एक पौत्रकी मृत्युका बड़ा दुःख था। मथुरासे तीन-चार मीलकी दूरीपर शान्तनुविहारीजी का मन्दिर आया। वहाँ गये दर्शन करने, तो वहाँके पुजारी लोगोंने बताया यहाँ कई मानता मान लो तो तुम्हारा दु.ख मिट जायेगा। तो उन्होंने मानता मानी कि हमारे पौत्र हो जाये तो हम हर बरस यहाँ आके पूजा करेंगे। तो देखो, आपको आश्चर्यकी बात सुनाते हैं। कार्तिक कृष्ण अमावस्या, दीपावलीके दिनसे ठीक नौ महीने वाद श्रावणकी अमावस्याको उनका मनोरथ पूरा हो गया। माने आज क्यों मनाते हैं जन्मदिन, यह बताया। ता, नाम भी हमारा वही रखा गया। (और कुछ बरसतक, बनारससे मथुराका किराया चार रुपये था। हर साल जाते, पूजा करके आ जाते। पर कुछ दिन तक निभा, बादमें निभना बन्द हो गया। तो सौ रुपया उन्होंने जमा करवा दिया कि सौ रुपयेका ब्याज चार रुपये आता साल-में। चार रुपयेकी पूजा हर साल हुआ करेगी।)

तो अब तुम यह भले कहो कि अन्ध विश्वास है, हम तो ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण जानते हैं। यहाँ बैठे हुए लोगोंमें ही ऐसे हैं, जिनके ब्याहके दस दस वर्षों तक सन्तान नहीं हुई और गये व्रजभूमिमें और राधाकुण्डमें स्नान किया गाँठ जोड़के और साल भरके भीतर ही सन्तान हो गयी। तो जो लोग देवता दानी नहीं मानते हैं वे लोग इस दिशामें कुछ भी नहीं जानते कि देवताकी कृपा क्या होती है, देवता क्या होता है, उसका प्रभाव कैसे पड़ता है, पद-पद-पर रोज-रोज हमको कुछ आश्चर्य मालूम पड़ता है कि यह क्या हो रहा है। देवता हाथमें डण्डा लेकर मनुष्य-की रक्षा नहीं करता है—न हस्ते यष्टिमादाय देवा रक्षन्ति साधकम्। यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संयोजयन्ति तम्। देवता लोग हाथमें लाठी लेकर भक्तकी रक्षा नहीं करते हैं। जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसके भीतर वैसी बुद्धि पैदा कर देते हैं। बुद्धि प्रकट करके देवता लोग रक्षा करते हैं। आप श्रीकृष्णकी भक्ति करो, रामकी भक्ति करो। श्रीकृष्णका जन्मोत्सव है, जन्माष्टमी है, रामका जन्मोत्सव है, रामनवमी है, तो वह रामका ही जन्म दिन नहीं है तुम्हारा भी तो कुछ है। भले तुम रामका उत्सव मत मनाओ, लेकिन अपना उत्सव तो मनाओ। हमारे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान्‌का जन्म दिन है तो रामनवमी मनाते हैं, जन्माष्टमी मनाते हैं। उत्सवका अर्थ होता है जो यज्ञसे भी बड़ा हो। उत्कृष्टः सवः। सव माने यज्ञ होता है। यज्ञसे भी श्रेष्ठ हो उसका नाम उत्सव होता है। क्योंकि उत्सवमें आनन्द प्रकट रहता है। उत्सवके दिन अपनी खुशी और दूसरेकी खुशी बिगाड़ना नहीं चाहिए। अगर कोई दुःखकी बात जीवनमें हो तो उसको भी भुला देना चाहिए। एक दिन तो जीवनमें ऐसा आवे कि हम संसारके सब दुःख भूल करके, अपनेको आनन्दमें रख सकें। जैसे एकादशीको बिना अन्नके रह लेते हैं, वैसे उत्सवके दिन बिना दुःखके रह सकें। बिना भोजनके एकादशी करते हैं तो बिना दुःखके उत्सव मनावें और यदि आज भी वही जो विकार है, वही जो दुःख है, वही जो संसार है, वह बना रहे तो उत्सव कैसा?

अब आप देखो, बीचमें खड़े होकर पीछे देखनेकी आवश्यकता नहीं। अभी एक माताका पत्र आया था मेरे पास, अब उनकी उम्र सत्तर-बहत्तर बरसकी हो गयी है। वे कहती हैं कि अब याद आता है कि हमने जीवनमें कितना कड़वा बोला है। अब याद आता है कि हमने किनका-किनका अपमान किया है। वे कहती हैं अपने पतिको भी मैंने कड़वा बोला है, अपनी सासका भी अपमान किया है। अब जब याद आता है तो हमारा दिल दुःखने लगता है, हमको क्या करना चाहिए? अभी तीन ही चार दिन हुआ उनका पत्र आया था।

तो यदि अपने जीवनमें कोई गलती हो, हुई हो, जानमें, अनजानमें, गलती सबसे होती है, ऐसा कोई मनुष्य सृष्टिमें नहीं होता जिससे गलती न होती हो। तो ऐसी जगहपर यह जन्मका दिन आपको लाकर खड़ा करता है कि यदि आपने किसीको दुःख पहुँचाया हो तो उसको याद करें, उसके लिए पश्चात्ताप करें, उसके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करें कि हे प्रभु हमसे जो गलती हुई है उसके लिए माफ करना और यदि ऐसा याद आवे कि हमने लोगोंका भला किया है, तो हमने किया है यह ख्याल छोड़कर यह ईश्वरकी प्रेरणा, ईश्वरकी कृपा हमारे जीवनमें हुई कि उससे यह अच्छा काम बन गया। अच्छे कामका तो अभिमान न हो और बुरे कामके लिए पश्चात्ताप करके ईश्वरके प्रति उसको निवेदन कर दें कि हे प्रभु यह यह गलती हमसे हुई है।

जब हम कहते हैं—हम बहुत अच्छे हैं, तब ईश्वर ध्यान नहीं देता है। भई यह तो स्वयं अच्छा है ही, रहने दो। लेकिन जब मनुष्य ऐसा अनुभव करता है कि हम दुःखी हैं, हमसे गलती होती है, तब ईश्वर तुरन्त कहता है नहीं-नहीं, तुम्हारी गलती नहीं है, है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी तो मैं माफ करता हूँ, है भी तो तुम्हारी गलती छुड़ाता हूँ।

यह जो उत्सवका दिन है, आप देखो चाहे रामका विवाह हो, चाहे कृष्णकी रासलीला हो, चाहे शिवजीका विवाह हो, आप अपने मनका एक दिन, कम-से-कम एक दिनके लिए आनन्दसे मरकरके रखिये। पीछे जो गलतियाँ हुईं उनके लिए पश्चात्ताप करके क्षमा माँग लीजिये, रही बात आगेकी, आगे भी गलतियाँ तो होती हैं लेकिन आगे जीवनका कुछ ठिकाना नहीं है, परसों-नरसोंकी बात है, हमारे एक पचपन साठ बरसके वृन्दावनके मित्र, पार्कमें घूमने गये थे, तो बिल्कुल स्वस्थ, कोई रोग नहीं था। वहीं बैठ गये और वहीं शरीर पूरा हो गया। तो इसमें प्रारब्ध होता है, इसमें ग्रहयोग होता है, अब हम प्रेमसे मिल रहे हैं, कल मिलेंगे कि नहीं, कुछ ठिकाना नहीं है। इसको चाहे प्रारब्ध कहो, चाहे ग्रहयोग कहो, चाहे प्रकृतिका स्वभाव कहो, चाहे ईश्वरेच्छा कहो। कुछ ठीक नहीं है कि कौन कब किससे मिलेगा और कौन कब किससे बिछुड़ेगा। यह सब-का-सब ईश्वरके हाथमें है, मिलना और बिछुड़ना। तो भविष्यके सम्बन्धमें कुछ ज्यादा कल्पना करने योग्य नहीं है। न तो कोई प्रेमी अपने साथ जायेगा, न कोई प्रियतम अपने साथ जायेगा। क्षणादूर्ध्वं न जानामि विधाता किं विधास्यति। एक क्षण आगेका पता नहीं है कि विधाता क्या करनेवाला है। तो, लोग अपने सिरपर जो मौत खड़ी है उसको तो देख नहीं पाते हैं, भविष्यमें क्या होगा ? यह किसीको मालूम नहीं है। लेकिन कुछ लोग भूतकी बात सोचकर पछतानेमें अपने वर्तमानको खो देते हैं। जो पहले बिगड़ गया सो तो बिगड़ गया, उसके बारेमें सोचते रहो तो यह भी बिगड़ेगा और जो आगे आनेवाला है वह किसीके हाथमें नहीं है। जो बीत गया उसको कोई लौटा नहीं सकता और जो आनेवाला है उसको कोई रोक नहीं सकता। यदि हम आनेवालेके बारेमें ज्यादा सोचेंगे, तब भी हमारा वर्तमान नष्ट होगा और यदि हम बीते हुए के बारेमें ज्यादा सोचेंगे तब भी हमारा वर्तमान नष्ट होगा। तो करना यह चाहिए कि भूत जो गया वह तो भूत हो गया और भविष्यमें जो आनेवाला है उसका पता नहीं है। न हमका है, न तुमको है, न किसी ज्योतिषीको है, न किसी भूत-प्रेतवालेको है। हम बहुत ऐसे लोगोंको जानते हैं जो अपने दुश्मनके मरनेका इन्तजार कर रहे थे, दुश्मन तो जिन्दा रहा, वे खुद ही मर गये। तो यह जो सृष्टिकी व्यवस्था चल रही है, इसमें सबसे बड़ी सावधानी क्या है कि हमारा वर्तमान न बिगड़ने पावे। आप चौबीस घण्टेको वर्तमान मान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लीजिये। सूर्योदयसे लेकरके सूर्यास्त-तक, तो हमारा चौवीस घण्टा बिगड़े नहीं। सवेरे उठिये, भगवान्का स्मरण कीजिये, भगवान्को हाथ जोड़िये भगवान्का पाँव छू लीजिये, उनका एक बार दर्शन कर लीजिये और कहो कि हे प्रभु! आजका दिन हमारा तुम्हारे स्मरणमें बीत जाये। आज हम किसीको दुःख न पहुचावें। किसीका वैर-विरोध न करें। हर प्रातःकाल अपनी ओरसे प्रतिज्ञा करो और भगवान्से प्रार्थना करो कि आजके चौवीस घण्टे हमारे किसीको दुःखदायी न हों और आजके हमारे चौवीस घण्टे लोगोंको सुख देनेके लिए हों। कलकी बात फिर कल देखी जायेगी। **गते श्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते।** जब श्वास शरीरके बाहर निकल जाता है तब उसका कुछ विश्वास नहीं है कि वह लौटके आवेगा कि नहीं। इसलिए जब तक श्वास है तबतक मनुष्यको सावधान रहना चाहिए। **आयुर्गच्छति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनम्। प्रत्यायान्ति गता पुनर्न दिवसा कालो जगद्भक्षकः॥**

यह क्षण क्षणमें हमारी आयु छीज रही है, खुली आँखसे हम देखते हैं पर पता नहीं लगता। कहते हैं हमारी उम्र बढ़ रही है, लेकिन उम्र क्षीण हो रही है। जवानी जा रही है। बीते हुए दिन फिर लौट करके आते नहीं। काल दुनियाको खा रहा है। ऐसी स्थितिमें यदि हम सावधानीके साथ अपने वर्तमानको नहीं बितावेंगे, यदि इसीको खो देंगे, दुनियाकी चीज इकठ्ठी करनेमें, भोगनेमें, दूसरोंसे वैर-विरोध करनेमें, अपने मनको बिगाड़कर रखनेमें खो देंगे, तो, हमें पछताना पड़ेगा। हमारा क्षण-क्षण परमानन्दमय हो, इसीको शास्त्रमें जीवन्मुक्ति बोलते हैं **भविष्यं नानुसन्धत्ते नातीतं चिन्तयति च। वर्तमाननिमेषन्तु हसन्नेवापि वर्तते।** भविष्यका, आगे क्या होगा इसका कुछ अनुसन्धान करनेकी जरूरत नहीं है और जो बीत गया उसकी भी चिन्ता करके वर्तमानको बिगाड़नेकी जरूरत नहीं है। आजका दिन अपने सामने आजका दिन पूरा नहीं है, यह क्षण है। इसमें भगवान्का नाम लें, नाच लें, गा लें, बजा लें। किसी निमित्तसे भगवान्की याद करके अपने दिल-दिमागको ठीक रख लें, यह क्षण हमारा ठीक रह जाये और एक-एक क्षण ठीक होता जाये, कोई छह बरसके लिए, सात बरसके लिए प्रतिज्ञा लेनेकी जरूरत नहीं है, एक दिनके लिए तो प्रतिज्ञा लो। एक दिनके लिए नहीं, घण्टे भर, इस घण्टेको हम बिल्कुल ठीक बितावेंगे। यदि तुम्हारा यह घण्टा गलत बीतता है तो अगला घण्टा भी गलत बीतेगा। आप सब एक हैं, कोई अलग नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। देखो हम लोग शरीर रूपसे अलग-अलग बैठे हैं लेकिन श्वास तो सबमें एक ही है ना। एक ही हवा है, जिसमें हम सब लोग सांस ले रहे हैं। एक ही आसमान है जिसमें हम टहलते हैं। एक ही टेम्प्रेचर है शरीरके भीतर, जिससे हम लोग जीते हैं। सबके शरीरमें भूख है, प्यास है, पानी है, अनाज है। सबके शरीरमें आवाज है। जरा बराबरी देखो। सबकी आँख आगेकी ओर होती है, भगवान्‌ने पीछेकी ओर तो आँख ही नहीं बनायी। पीछेकी ओर आँख होती तो आप आगे भी देखते चलते; पीछे भी देखते चलते। साधुओंके लिए तो ऐसा वर्णन है कि चलें भी तो अपने पाँवके पास ही देखके चलें, चार हाथसे आगे देखके चलनेकी जरूरत नहीं होती। यदि हमारा वर्तमान सुधर गया, तो जो आज वर्तमान है वही कलको भूत हो जायेगा और आज जो भविष्य है वही कल वर्तमान होगा। यदि हम वर्तमानको ठीक करते जायें, तो वर्तमानमें से ही भूत गुजरता है और वतमानमें-से ही भविष्यको आना पड़ता है। इसलिए भूत भविष्यकी ओर दृष्टि न रख करके, आजका जो दिन है, वह आनन्दमें भर करके व्यतीत करना चाहिए। सबसे बड़ा उत्सव, सबसे बड़ा आनन्द यह है कि इस क्षणमें हमको भगवान्‌का दर्शन हो रहा है और हम परम पवित्र, परमानन्द, परम ज्ञानस्वरूप भगवान्‌में स्थित हैं, उनका स्मरण कर रहे हैं, उनके साथ हँस रहे हैं, खेल रहे हैं, उनका नाम ले रहे हैं। आजसे बढ़करके अब और कोई दिन जीवनमें आवेगा, यह सोचनेकी जरूरत नहीं है, आज ही जन्माष्टमी है, आज ही रामनवमी है। आज ही शिवरात्रि है। जब सृष्टि ब्रह्माने पहले-पहल बनायी थी, वह दिन कब है ? आज है। गौरीशंकरका विवाह कब हुआ ? आज है। आजको ठीक बना लो तो बीता हुआ कल भी ठीक हो जायेगा और आगे आनेवाला कल भी ठीक होता जायेगा। इसलिए उत्सवका अर्थ है अपने जीवनका एक दिन ठीक करना। यदि आप इस एक दिनको भी ठीक नहीं कर पाते हैं, बिगाड़ देते हैं, तरह-तरहसे दुःख-की कल्पना कर लेते हैं, तो कल भी वही रहेगा, परसों भी वही रहेगा, रोज-रोज भी वही रहेगा। अभी आनन्दमन हुए, गा रहे थे दलीलीजी, झूलनेका गीत। देखो, हमारा शरीर भी झूलता है झूलेपर दाहिने-बायें। तो एक हृदयमें झूला पड़ा है हमारा शरीर बायेंको जाता है तो झूला दाहिने जाता है और जब हमारा शरीर दाहिनेको जाता है तो झूला बायेंको जाता है। जब हम आगेको हिलते हैं, झूला पीछेको जाता है। यह हृदय हमारा झूला है। इसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान् झूल रहे हैं ब्रजनाथ झुलाऊँ सारी रैन। आओ सारी रात""यह प्रकृति एक रात है अन्धकारमय, इसमें जीव जो हैं ये तारेकी तरह टिमटिमाते हैं। यह सारी प्रकृति अन्धकारमयी रात्रि है और इसमें जितने जीवात्मा हैं वे तारेकी तरह खिले हैं और इसमें भगवान् क्या हैं—कि श्रीकृष्ण चन्द्र हैं। चन्द्रमाके रूपमें भगवान् खिलते हैं। उस चन्द्रमाको, सारे आकाशको, अपने हृदयमें लेकरके देखो वह चाँदनी खिल रही है वह चन्द्रमा, वे तारे और वह प्रकृति, वह वृक्ष, वह लता, वह वृन्दावन, वे गौयें, वह गोवर्धन, वे ग्वालवाल, वे गोपियाँ यदि इस समय आप अपनेको भगवान्के ध्यानमें भगवान्के चिन्तनमें लगा दो, आपका वर्तमान यदि ठीक हो जाये, तो भूत भविष्य सब अपने आप ही ठीक हो जाता है। इसलिए उत्सव तो ऐसा मनाना चाहिए कि भाई कल क्या था ? बोले कल तो शनिवार था। बोले शनैश्चरका भी व्रत करना चाहिए। कल सोमवार था कि सोमवारको तो शंकरजीका व्रत है। आज मंगल है आज हनुमान्जीका व्रत कर लो। इस तरहसे रोज-रोज अपने जीवनमें कोई न कोई उत्सव ढूँढ निकालना चाहिए। हमारे रोज-रोज, गृहस्थ लोगोंके घरमें कभी बेटा होता है, कभी ब्याह होता है, तो कभी-कभी उत्सव होता है। अपना जीवन, भक्तका जीवन तो ऐसा है कि उसको वह रोज-रोज परमानन्दमय, परमोत्सवमय मना सकता है। रोनेके लिए यह मनुष्य जीवन प्राप्त नहीं हुआ है। यह आनन्दमें रहनेके लिए प्राप्त हुआ है। आनन्दमें आये, आनन्द-में रहो, आनन्दमें जाओ।

वह दिन कब है—आज है। किसी महात्माको ब्रह्मज्ञान हुआ था, कब हुआ था ? आज हुआ था।

धर्म अन्तःकरण-शुद्धिके पहले आता है, शुद्ध करता है। तत्त्वज्ञान अन्तःकरण-शुद्धिके पश्चात् आता है। अशुद्धिकालमें अन्तःकरणको सँभालनेवाली भक्ति ही है। यदि किसीसे धर्म छूट जाय, भगवान्का भजन करते-करते भजनका भी परिपाक न हो, वह भजनसे विमुख हो जाय तो स्वयं भजन ही उसको सहारा देकर अपनी ओर खींच लेता है।

—चारु चिन्तन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मकथा : एक उपेक्षिता भिक्षुणीको

ऋषिदासी

श्री जगन्नाथ पाठक

बोधि, मैंने तुझसे कहा था कि आज पाटलिपुत्रकी तलवाहिनी महागंगाके निर्जन पुलिनपर पिण्डपात (आहार)के पश्चात् अपनी प्रव्रज्याकी कहानी सुनाऊँगी। तो सुन, क्यों मैं इस अपरिपक्व अवस्थामें प्रव्रजित हुई ? यह ठीक है कि कुसुम-सुकुमार यौवन किसी प्रकार इस कठोर आतप-धर्म प्रव्रज्याके लिए उचित नहीं है। किन्तु सभी घटनाएँ क्या उचित ही होती हैं ? क्या किसी घटनाका अनुचित होना भी एक अनिवार्य स्थिति नहीं है ? बस, यही समझ कि मैं जो इस वयमें प्रव्रजित हुई वह कुल नियतिकी दुरभिसन्धिका परिणाम होना चाहिए। लेकिन अब मैं उसे 'दुरभिसंधि' नहीं मानती, यह तो मेरे जीवनका अवश्य-भव्य था, अनिवार्य था, बल्कि जो कुछ हुआ सो ठीक हुआ।

मेरा जन्म उज्जयिनीके सम्पन्न वैश्यकुलमें हुआ था। उज्जयिनीकी शोभाका वर्णन क्या करूँ? वह तो त्रिभुवन-ललाम महानगरी है। उसके समुज्ज्वल प्राकार-मण्डल, नानाविध रत्नोंसे भरे हुए समुद्रों-जैसे महाविपणि-पथ, अम्बर-तलसे अवतीर्ण दिव्य विमान, पक्षियोंके सदृश चित्रशालाएँ और कनकमय निर्मल शिखरोंवाले शृंगाटक समग्र जम्बुद्वीपमें अपनी विलक्षणतामें सुविख्यात हैं। अब मैं भिक्षुणी होकर इस बाह्य भौतिक शोभाराशिको अभिनन्दनीय नहीं समझती, किन्तु कभी मेरे लिए ये सभी आकर्षणके केन्द्र थे। उज्जयिनीके अनेक सम्पन्न वैश्य कुलोंसे मेरे पिताका अच्छा सम्पर्क था। इस कारण प्रतिदिन वैश्यकुलोंकी वधूटियाँ पालकियोंमें बैठकर मेरे घर आया करतीं। उनकी भेषभूषा, उनकी बातें, उनकी शिष्टताका असर मेरे मनपर निरन्तर गहरा होता चला गया और जब मैं वय:प्राप्त (युवा) हुई तो स्वयं उनके घरोंमें जाने लगी। एकमात्र सन्तान होनेके कारण अपने पिता-माताका सम्पूर्ण स्नेह मुझपर केन्द्रीभूत था और मेरे बन्धु-बान्धव भी मुझे अपने स्नेहाशीर्वादसे अभिनन्दित करते थे। यद्यपि मैं रूपवती न थी, किन्तु विरूपा भी न थी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरी दृष्टिमें रूप-लावण्य मानवके लिए नियतिकी सर्वोत्कृष्ट देन थी। मैं इससे पूर्ण वञ्चित न होकर भी अपने ऐश्वर्यसे प्रसन्न थी। इस देनको बड़े बनाव-सजावके साथ रखती कि इसमें कमी न हो। मेरे यहाँ किस वस्तुका अभाव था ? श्रृंगार-सज्जाकी वस्तुओंका व्यापार होता था। विभिन्न स्थानोंकी उत्तमोत्तम श्रृंगार-सामग्रियाँ उज्जयिनीमें विक्रय के लिए आती थीं और उनमें सबसे अच्छी वस्तुओंपर पिताकी ओरसे मुझे पूर्ण अधिकार प्राप्त था। मैं रूपकी कमीकी पूर्ति साज-सज्जासे किया करती।

वाराणसीका सूक्ष्म-विमल दुकूल मुझे बहुत पसन्द था। उसकी चित्र-विचित्र रंगीनियोंपर मैं मुग्ध थी। इन्द्रायुध-दुकूल (सतरंगी) को पहनकर मैं उज्जयिनीके कुलपुत्रोंके विवाहादि उत्सवोंपर जाती तो सबकी आखें मुझपर अटकी होती। चले गये वे दिन, जिनमें हर कलीका जीवन आमोदित लगता था, आगये ये दिन, जिनमें हर कली राखका एक पुञ्ज मात्र लगती है, निरामोद, निरुद्देश्य ! फिर भी, मैं तथागतकी शरणागत हो सन्तुष्ट हूँ, राखका मैं भी एक पुंज हूँ और इसी रूपमें उस दिनकी प्रतीक्षाकर रही हूँ जब मेरे अस्तित्वका प्रत्येक कण महाकारुणिक-के महिमामय धर्मराज्यके प्रशस्त वायुमण्डलमें बिखर-बिखर जायगा। अस्तु, मैं अपने विगत जीवनकी कहानी कह रही थी।

उन्हीं दिनों साकेतका कोई उत्तमकुलीन श्रेष्ठी व्यापारके प्रसंगमें अपने वयःप्राप्त पुत्रके साथ उज्जयिनी आया। वह रत्नोंका व्यापारी था। उसे योग्य और उत्तम समझकर मेरे पिता ने उसके पुत्रसे मेरा विवाह कर दिया। मुझे पिताने विदा करते हुए वाष्पस्तम्भित कण्ठसे गुरुजनों और पतिकी सेवा तथा समादरमें दत्तचित्त रहनेका उपदेश दिया था, जिसे मैंने अपने हृदयपर लिख लिया।

मैं अपने पतिसे एक सुसज्जित एकान्त कक्षमें निशीथके समय प्रथम बार मिली। मैंने अपना देवता समझकर उनके चरणोंमें सिर झुका दिया। उन्होंने मुझे देखनेकी त्वरासे मेरे मस्तकसे अवगुण्ठन हटा दिया। वह अकस्मात् मेरी ओरसे शिथिल प्रतीत हुए। मैंने निवेदन किया कि मैं उनके चरणोंकी दासी हूँ।

किन्तु इसपर प्रसन्न होनेके स्थानपर उनकी मुखकान्ति म्लान हो गयी। मैंने कम्पित स्वरमें कहा—'मुझसे अपराध हुआ हो तो क्षमा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करें।' उन्होंने कुछ रूखा होकर कहा—'तुम हीन वैश्य-कुलकी सन्तान हो।'

नियतिका यह कोई दुश्चक्रपात था। मेरे शरीरका प्रत्येक प्रसाधन मेरे साथ एक स्वरमें चीत्कार कर उठा और वह उस कक्षसे तबतक बाहर चले जा चुके थे। वह ज्योत्स्नासे उद्भासित रजनी मेरे लिए तत्काल घोर कालरात्रिके रूपमें परिणत हो गयी। मैं पछाड़ खाकर गिर गयी। नियतिकी इस विपरीत प्रेरणाको मैं क्या कर सकती थी कि मेरा ही अमृत मेरे लिए विष हो गया। बोधि! तुझे क्या बताऊँ, मेरी वह रात किन-किन उलझनोंमें बीती। मैं मूर्च्छित होकर वहीं कुट्टिमपर पड़ी रही।

किसी शून्य वनप्रान्तमें एक राजकुमार वीणा बजाता हुआ चला जा रहा है, चला जा रहा है। उसके पीछे एक हरिनी खिची-खिची बेसुध चली आ रही है। राजकुमार किसी घनच्छाय वृक्षके नीचे बैठ जाता है और वीणाके स्वरमें विभिन्न राग-रागनियोंकी सृष्टि करने लगता है। हिरनी और भी अधिक बेसुध हो जाती है। यहाँ तक कि उसके अङ्कमें लेट जाती है। राजकुमारकी वीणा रुक जाती है, उसका एक हाथ हिरनीकी गर्दन में जाकर फँस जाता है और दूसरा हाथ पेटीमें पड़ी छुरी निकाल लेता है।

मेरी मूर्च्छा टूटी। ओह! यह क्या हुआ? हाँ पिताजी, आपकी ऋषिदासी एक शीतल चितामें जल रही है। आपका दिया हुआ प्रत्येक आभरण मेरे अङ्ग-अङ्गको अङ्गारा बनकर कष्ट दे रहा है। फिर मेरी आँखोंके सामने घनघोर तिमिर छा गया। सहसा एक स्थिर विद्युत्प्रकाश उभरा और उसके परिवेशमें करुणामय सौम्य मूर्ति दिखायी पड़ी। अकस्मात् उसके ईशद् स्मितपूर्ण मुखमण्डलसे दिव्य वाणी मैंने सुनी। किन्तु मैं अपनी अन्तर्व्यथाके उन उद्वेलित क्षणोंमें उसे नहीं सुन पायी। वह मूर्ति तिरोहित हो गयी और वह अन्धकार धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

मैं अपने पिताकी बात नहीं भूल सकी। सायं-प्रातः अपने गुरुजनोंके चरणोंमें प्रणिपात करती थी। दिनके पश्चात् फिर किसी रात्रिमें पतिसे मैं नहीं मिल पायी। फिर भी जहाँ-कहीं उन्हें देख पाती, उनकी शत-शत उपेक्षाओंके बावजूद उनके चरणोंको छूनेका प्रयत्न करती, एक दासीकी भाँति। मेरे गुरुजन मुझपर प्रसन्न थे। मैं पतिको इसलिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अप्रिय न थी कि मैं उन्हें दासी लगती थी या हीन वैश्यकुलकी थी। कुछ कारण और ही था, जिसे मैं तब इसलिए नहीं कह सकती थी कि शीलसे मेरे ओठ सिले हुए थे। मैं विनयका मार्ग नहीं छोड़ सकती थी। सम्भवतः इस विनयके अतिरेकने ही नारीको अबला बनाया और मैं सच्चे अर्थमें अबला थी, असहाय, निरीह और मूक।

इतनी उपेक्षाओंके होनेपर भी एक रात मैंने स्वप्नमें देखा कि मेरे पति मेरे पास तक पहुँच गये हैं। मैंने उनके चरणोंमें प्रणिपात किया है। उन्होंने उठाकर मुझे अपने शीतल अङ्कमें भर लिया है। मैं शर्मसे गड़ गयी हूँ। मैं उनके बिखरे बालोंको उनके हाथोंमें आदर्श देकर कंकतिका (कंघी) से सँवारने लगती हूँ। उनकी आँखोंमें अञ्जन लगाती हूँ और प्रसाधिकाकी भाँति उन्हें विभूषित करती हूँ।

अन्ततः वह एक स्वप्न ही तो था, टूट गया। एक दिन मेरे पतिने अपने माता-पितासे कह दिया—'मुझे आप लोग छोड़ दें, मैं ऋषिदासीके साथ एक घरमें नहीं रह सकता।' मेरे श्वसुरने उन्हें बहुत समझाया और पूछा—'पुत्र ऐसा मत कहो, ऋषिदासी समझदार और शीलवती है। फिर क्यों तुझे पसन्द नहीं आती?' वह कुछ नहीं बोले, केवल अपने निषेधपर स्थिर रहे। फिर मेरे श्वसुरने मुझसे मेरा अपराध पूछा, मैं केवल रोती रही और कुछ नहीं बोली। मुझे निश्चय हो गया कि अब यह घर मेरे लिए नहीं रहा।

मैं पिताके घर आगयी और पहुँचाकर जाते हुए श्वसुरने कहा था कि वह मुझ गृहलक्ष्मीको अपने घरमें नहीं रख सके। मेरे पिता बहुत दुःखी हुए। कुछ दिनोंके पश्चात् उन्होंने एक दूसरे वैश्यकुलमें मुझे विवाह दिया किन्तु मैं अपने भाग्यको क्या कहूँ कि वहाँ भी वही उपेक्षा मिली और मैं पुनः अपने पिताके घर पहुँचा दी गयी। तदनन्तर आकर मेरे पिताने एक युवा शान्त भिक्षुसे कहा—'तुम चीवर और भिक्षापात्र फेंक दो तो मैं तुम्हें अपना जमाता बना लूँगा।' उसने स्वीकार कर लिया और रहने लगा। किन्तु मेरे दुर्भाग्यका अब भी अन्त न था कि वह भिक्षु मेरे पिताके पास जाकर बोला—'आप मेरा चीवर और भिक्षापात्र लौटा दीजिये, मैं भिक्षाचरण ही करूँगा।' पिताके कारण पूछनेपर भी वह नहीं बता सका और निकल गया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं अब अपनी इतनी उपेक्षा नहीं सह सकती थी। मैंने निश्चय किया कि या तो प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी या मृत्यु के शीतल अङ्कमें अनन्त कालके लिए सो जाऊँगी। मृत्यु और प्रव्रज्या यद्यपि दोनों एक समान मुझ अशरणकी शरण लगीं, किन्तु मैंने मृत्युसे भी ज्यादा प्रव्रज्या पसन्द की, क्योंकि मृत्युमें अपनी हार लगी और प्रव्रज्यामें अपनी जीत। मृत्यु कुछ कालके लिए विश्राम थी, किन्तु प्रव्रज्या अनन्तकालके लिए जरा-मरणसे मुक्तिका एक कुशल-मार्ग। मैंने गृहवाससे विरति और प्रव्रज्याका मार्ग निश्चय किया और अन्तमें पितासे अनुमति प्राप्त की।

एक दिन मैंने अपने द्वार-मार्गसे पिण्डपातके लिए गुजरती हुई आर्या जिनदत्ताको देखा, उनकी आकृति करुणा और मैत्रीकी उद्भावनाओंसे आलोकित थी। मैं उन्हें अपने घरके भीतर ले गयी और आसन अर्पित करके उनके चरणोंमें प्रणिपात किया और यथासन्निहित भोजन-पानसे उन्हें सन्तृप्त किया। तत्पश्चात् मैंने विनयपूर्वक कहा—'आर्य मैं प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती हूँ। मैं एक दुःखी अबला हूँ। मुझे पितासे आज्ञा मिल चुकी है।' आर्या जिनदत्ताने मौन भावसे मेरी प्रार्थना स्वीकार की।

•

ज्ञान विध्वंसात्मक है। ब्रह्मको प्रकाशित करना ज्ञानका काम नहीं है। ज्ञानका काम अज्ञानको नष्ट कर देना है। ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश है अतः अविद्याकी निवृत्ति ही मोक्ष है। किन्तु प्रेम समग्र ईश्वरको गोदमें लेनेवाला है। प्रेम रचनात्मक है। प्रेम जब ईश्वरको हृदयमें लेने लगता है तब न तो पूरा ईश्वर हृदयमें आता, न ईश्वरको अपनेमें ले-लेनेकी पिपासा ही पूर्ण होती।

मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की।

न प्रेमास्पदका अन्त मिलता, न प्यासकी तृप्ति होती।

प्यास ही कौ रूप मानौ प्यारी जू कौ रूप है।

श्रीराधाका स्वरूप क्या है? अनन्त प्यास। जिसमें तृप्ति आ गयी, जिसने 'बस' मान लिया, उसने तो अभी प्रेमकी गलीमें पैर ही नहीं रखा।

—नारदभक्तिदर्शन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनादि शासन—संविधान वेद है

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज

प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणपर निर्भर होती है। प्रमाणशून्य विचार, वाद, सिद्धान्त, सब अप्रामाणिक, भ्रान्त, विनश्वर और हेय भी समझे जाते हैं। जैसे रूप जाननेके लिए निर्दोष चक्षु, गन्धके लिए घ्राण, शब्दके लिए श्रोत्र, रसके लिए रसना, स्पर्शके लिए त्वक् और सुख-दुःखके लिए मन प्रमाण अपेक्षित हैं, वैसे ही अनुमेय प्रकृति, परमाणु आदिके ज्ञानके लिए हेत्वाभासों पर अनाधृत, व्यभिचारादि-दोषशून्य व्याप्तिज्ञान या व्याप्य हेतुपर आधृत अनुमान अपेक्षित होता है। ठीक इसी प्रकार धर्म, ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय और अननुमेय पदार्थोंके ज्ञानके लिए स्वतन्त्र शब्द-प्रमाण अपेक्षित है। संसारमें सर्वत्र पिता-माताको जाननेके लिए पुत्रको शब्द-प्रमाणकी आवश्यकता होती है। न्यायालयोंमें लेखों एवं साक्षियोंके शब्दोंके आधारपर ही आज भी सत्यका निर्णय किया जाता है।

फिर भी वैदिक शब्द-प्रामाण्य उनसे विलक्षण है। कारण, लोकमें शब्द कहीं भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होते। वे प्रत्यक्ष एवं अनुमानपर आधृत होते हैं। उनके आधारभूत प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें दोष होने अथवा वक्ताके भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषोंसे दूषित होनेके कारण उनमें कहीं अप्रामाण्य भी सम्भव होता है। दोषशून्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंपर आधृत समाहित निर्दोष आप्तवक्ताके शब्दोंका ही प्रामाण्य होता है। किन्तु अपौरुषेय मन्त्र-ब्राह्मण रूप वेद तो सदा प्रमाण ही होते हैं, अप्रमाण नहीं। शब्दका प्रामाण्य सर्वत्र मान्य है, उसका अप्रामाण्य वक्ताके भ्रम-प्रमादादि दोषोंपर ही निर्भरता होता है। यदि कोई ऐसे भी शब्द हों जो किसी वक्तासे निर्मित न हों, तो उनके वक्तृदोषसे दूषित न होनेके कारण अप्रामाण्यका कारण न होनेसे सुतरां उनका स्वतः प्रामाण्य मान्य होता है। ऐसे ही उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भी मान्य हैं। ऐतिह्य, चेष्टा आदि कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि प्रवाद या ऐतिह्य यदि आप्तपरम्परासे प्राप्त है, तो आप्त-वाक्यमें ही आजाते हैं और चेष्टादि आन्तर भावोंके अनुमापक होनेसे अनुमानमें ही निहित समझे जाते हैं।

जिन ग्रन्थों या वाक्योंका पठन-पाठन एवं तदर्थानुष्ठान अविच्छिन्न अनादि सम्प्रदाय-परम्परासे प्रचलित हो और जिनका निर्माण या निर्माता प्रमाणसिद्ध न हों, ऐसे वाक्य या ग्रन्थ अनादि एवं अपौरुषेय ही होते हैं। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि इसी दृष्टिकोणसे अनादि-अपौरुषेय मानी जाती है। गो, घट, पट आदि बहुत-से शब्द भी, जिनका निर्माण प्रमाणसिद्ध नहीं है और जो अनादिकालसे व्यवहारमें प्रचलित हैं, नित्य माने जाते हैं।

नैयायिक, वैशेषिक आदिके मतानुसार यद्यपि वर्ण एवं शब्द सभी अनित्य ही हैं; तथापि पूर्वोत्तर मीमांसकोंकी दृष्टिसे वर्ण नित्य ही होते हैं। क्योंकि 'अ क च ट त प' आदि वर्ण प्रत्येक उच्चारणमें एकरूप-से ही पहचाने जाते हैं। अवश्य ही कण्ठ-ताल्वादि भेदसे ध्वनियोंमें भेद भासता है। अतः ध्वनियोंके अनित्य होनेपर भी वर्ण सर्वत्र अभिन्न एवं नित्य है। नियत वर्णोंकी नियत आनुपूर्वीको ही 'शब्द' एवं नियत शब्दोंकी नियत आनुपूर्वीको 'वाक्य' कहा जाता है। यद्यपि वर्णोंके नित्य एवं विभु होनेसे उनका देशकृत तथा कालकृत पौर्वापर्य असम्भव ही होता है और पौर्वापर्य न होनेसे शब्द एवं वाक्य-रचना असम्भव ही है; तथापि कण्ठ-ताल्वादिजनित वर्णोंकी अभिव्यक्तियाँ अनित्य ही होती हैं। अतः उनका पौर्वापर्य सम्भव है और उसीके आधारपर पदत्व तथा वाक्यत्व भी बन जाता है।

यद्यपि वर्णाभिव्यक्तियोंके अनित्य होनेसे पदों एवं वाक्योंकी भी अनित्यता ही ठहरती है; तथापि जिन पदों एवं वाक्योंका प्रथम उच्चारयिता या पूर्वानुपूर्वी-निरपेक्ष आनुपूर्वी-निर्माता प्रमाण-सिद्ध नहीं, उन पदों एवं वाक्योंको प्रवाहरूपसे नित्य ही माना जाता है। रघुवंश आदिके प्रथम आनुपूर्वी निर्माता या उच्चारयिता कालिदास आदि हैं, किन्तु वेदोंका अनादि आचार्य परम्परासे ही अनादि अध्ययन-अध्यापन चलता आ रहा है। अतः उनका निर्माता या प्रथमोच्चारयिता कोई नहीं है। रघुवंश आदिके उच्चारयिता हम जैसे भी हो सकते हैं, पर प्रथम उच्चारयिता कालिदासादि ही हैं। हम लोग तो पूर्वानुपूर्वीसे सापेक्ष होकर ही उच्चारयिता हैं, निरपेक्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं। किन्तु वेदोंका कोई भी निरपेक्ष उच्चारयिता या प्रथम उच्चारयिता नहीं है। सभी अध्यापक अपने पूर्व-पूर्वके अध्यापकोंसे ही वेदका अध्ययन या उच्चारण करते हैं, इसलिए वेद अनादि एवं नित्य माने जाते हैं।

गो-घटादि शब्दोंका नित्यत्व वैयाकरण एवं पूर्वोत्तर मीमांसक भी मानते हैं और शब्दकी शक्ति भी जातिमें मानते हैं। इसीलिए शब्द और अर्थका सम्बन्ध शक्ति या संकेत भी उन्हें नित्य ही मान्य है।

यद्यपि 'डित्थ', 'डवित्थ' आदि यदृच्छा-शब्दोंके समान कुछ शब्द सादि भी होते हैं; तथापि तद्भिन्न पुण्यजनक सभी साधु शब्द अनादि एवं नित्य ही होते हैं। हम अनादिकालसे ही गो, घट आदि शब्दों और उनके अर्थोंके सम्बन्धोंका वृद्ध-व्यवहार-परम्परासे ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन शक्तिग्राहक-हेतु व्याकरण, काव्य, कोष आदिमें वृद्ध-व्यवहार ही मूर्धन्य माना जाता है। धूम-वह्निका सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध है तथा धूम-वह्निका व्याप्तिसम्बन्ध ज्ञात होनेपर ही धूमसे वह्निका अनुमान होता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह शब्द एवं अर्थका स्वाभाविक सम्बन्ध होनेपर भी व्यवहारादि द्वारा सम्बन्ध-ज्ञान होनेपर ही शब्द भी स्वार्थका बोधक होता है। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक आदि शब्द एवं अर्थके सम्बन्ध ईश्वरकृत होनेसे शब्द और उसके सम्बन्धको अनित्य ही मानते हैं; तथापि सृष्टि-प्रलयकी परम्परा अनादि होनेसे सभी सृष्टियोंमें सम्बन्ध समानरूपसे रहते हैं। अतः उनके यहाँ भी शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध प्रवाहरूपसे नित्य ही होते हैं।

पूर्वोत्तर मीमांसा वर्ण, पद एवं पद-पदार्थसम्बन्ध तथा वाक्य एवं वाक्य-समूह वेदको भी नित्य मानते हैं।

इतिवृत्तवेत्ता भी संसारके पुस्तकालयोंमें सर्व प्राचीन पुस्तक ऋग्वेदको ही मानते हैं। लोकमान्य तिलकने 'ओरायन'में युधिष्ठिरसे भी हजारों वर्ष पूर्व वेदोंका अस्तित्व सिद्ध किया है। श्री दीनानाथ चुलेटने कई मन्त्रोंको लाखों वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है। मनु, व्यास, जैमिनी, प्रभृति ऋषियों तथा स्वयं वेदने भी वेदवाणीको नित्य कहा है : **वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे** (मनु. १.२१), **अत एव च नित्यत्वम्** (ब्रह्मसू० १.३.२९), **वाचा विरूपनित्यया** (ऋ०सं० ८ ७५.६), **औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** (जं० सू० १ ५) आदि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाक्यपदीयकारके अनुसार प्रत्येक ज्ञानके साथ सूक्ष्मरूपसे शब्दका सहकार रहता है। कोई भी विचारक किसी भाषामें ही विचार करता है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके
यः शब्दानुगमादृते।
(वाक्यपदीय १ का० १२३ श्लोक)

'जानाति, इच्छति, अथ करोति'के अनुसार ज्ञानसे इच्छा एवं इच्छासे ही कर्म होते हैं :

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा
इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।

अतः सृष्टि-निर्माणके लिए सर्वज्ञ ईश्वरको भी ज्ञान (विचार), इच्छा एवं कर्मका अवलम्बन करना पड़ता है। जिस भाषामें ईश्वर सृष्टिके अनुकूल ज्ञान या विचार करता है, वही भाषा वैदिक भाषा है। ईश्वर एवं उसका ज्ञान अनादि होता है। अतएव उसके ज्ञानके साथ होनेवाली भाषा और शब्द भी अनादि ही हो सकते हैं। वे ही अनादि वाक्य-समूह 'वेद' कहलाते हैं। बीज एवं अंकुरके समान ही जाग्रत्-स्वप्न, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय तथा कर्म एवं कर्मफलकी परम्परा भी अनादि ही होती है। अनादि प्रपञ्चका शासक परमेश्वर भी अनादि ही होता है। अनादिकाल-से शिष्ट (शासित) जीव एवं जगत् पर शासन करनेवाले अनादि शासक परमेश्वरका शासन-संवि-धान भी अनादि ही होता है। वही शासन-संविधान 'वेद' है। विशेष जानकारीके लिए 'वेदप्रामाण्य-मीमांसा, वेद-स्वरूप-विमर्शः (संस्कृत) एवं 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' (हिन्दी) ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

●

यह लेख परम पूज्य अनन्त श्रीविभूषित स्वामी श्री करपात्री जी महाराज द्वारा लिखित पुस्तक 'विचार-पीयूष'से उद्धृत किया गया है। यह पुस्तक अखिल भारतीय रामराज्य परिषद्, धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड वाराणसी द्वारा प्रकाशित है। इसका मूल्य मात्र २२·०० रुपये हैं। पुस्तक रायल साइजमें ६५० पृष्ठकी है। पुस्तक संग्रहयोग्य है। सुविज्ञ पाठक उक्त पतेसे मंगाकर लाभ उठावें।

—सम्पादक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

KARMA, THE UNIVERSAL LAW OF CONSERVATION AND CAUSALITY

(Jnan H. Adhin)

Dynamic Unity

It is a fundamental conviction of the *Vedanta* that the universe, which is pervaded by *Brahman* (the Absolute), is a manifestation of the one real (*Ekamsat*), outside of which there is no second *(advitiyam)*. Thus the *Kath-Upanishad* e.g. says unequivocally: 'Yad-eveha tad-amutra yad-amutra tad-anviha, Mrityoh sa mrityum-apnoti ya iha naneva pashyati''– 'What is here (visible in the world) is also there (invisible in Brahman) and what is there is also here; whoever sees difference between what is there and what is here (i.e. between Brahman and the world), shall proceed from death to death (i.e. shall be reborn again and again, until he has seen the truth)'.

When the Absolute *(Brahman)* the unrevled, impersonal reality, which transcends all distinctions-is brought in relation with the cosmos, then it is seen as a duality of objectivity and subjectivity. The principle of objectivity *(mul-prakriti* or primordial nature *)*-i.e. the latent *(avyakt)* potentiality of all existence- is in essence not different from the creative Logox *(Ishvar)* : as not-self *Prakriti* is a reflection of and subordinated to the self. When the element of negation is introduced into the Absolute, then the primary two-oneness (duality) of *Brahm Maya* (or *Shiv-Shakti*) is born, giving rise to the universe, to the process of becoming, in which the pairs of opposites *(dvandva)* fulfil a fundamental role. *Brahman* is being *(Sat)*, of which the universe is *Vivart*, a relative appearance in space and time.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

In transcendental sense everything is unborn, and there is no coming into existence and passing away, no birth and decay : Being *(Sat)* has not originated and does not become : But from empirical standpoint everything is becoming and there is no enternity; hence the universe is called *Sansar* (sanari=to flow on). Of the universe, properly speaking, it cannot be said that it is or that it is not, for it is always becoming what it is not ! This dynamism governs the phenomenal world, which cannot be but changeable and transitory.

These changes however are not arbitrary or freakish, but lawbound and ordered, since they are governed by the evolutionary law of becoming, to which all forms of existence mineral, vegetative, animal or human are subjected. In the universe a fundamental law is operative, a law that pushes along into the direction of return to the origin, to Brahman. And on the human level of existence this evolution has not only become perceptible, but also an active participation in this process has become possible.

The universe is a manifestation of *Brahman;* thus, the world is dependent on Brahman, but the reverse is not case : Brahman exists in its own right, it is both immanent and transcendent. This conviction is already distinctly expressed in the ancient *Rig-Veda* in the famous *Purush Sukt* (the hymn of purush), in which the divine purush is certainly regarded as source and soul of the universe, but it not viewed as entirely merged into it, as may be gathered from the following passages of this majestic hymn : 'purusha evedam sarvam yad-bhutam yaccha bhavyam' 'The purush is this all what has become and what shall be'; and also : 'Pado'sya vishva bhutani tripadasyamritam divi'. Only one-fourth of Him is this universe, three-fourths constitute the eternal divine'. The *Bhagvad-Gita* is very clear on this point : 'Matsthani sarvabhutani na chaham teshvavasthitah'—'All beings in Me, but I am not enveloped by them'.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The relation between the Absolute and the relative cannot lagically be understood or verbally expressed; and this mystery is denoted by the term *Maya* : the veil which prevents us from seeing the world as a manifestation of the Absolute. This state of *Avidya* (nescience) however, is not only subjective, not only a quality of the individual consciousness of each man separately; but it is also objective, namely the principale of cosmic finiteness. As long as man moves only on the empicical level of existence *(vyavharik satta)*, so long transcendental reality *(paramarṭhik saṭṭa)* is closed for him. But as soon as ignorance *(avidya)* is dispelled and man is able to see through the veils of maya, then he gains spiritual insight *(Jnan)*, he beholds in a flash the unity of existence *(darshan)*, he experiences the oneness of subject and object *(anubhav)* and he attains the deepest bliss *(anand)*.

There is an essential concordance between man and world, for the deepest reality in man *(Atman)* and the deepest reality in the universe *(Brahman)* are one and the same : '*Tat tvam asi* (That art thou)', says the *Chhandogya-Upanishad*. And this conviction of unity lies at the basis of ordering human behaviour; this has to be done in such a way as to provide man with optimal opportunity for spiritual growth, leading ultimately to the attainment of self-realisation. Deeply rooted is the conviction that there exists an immanent cosmic order (*Rita*), which refers to the truth of the things as well as to the doings and dealings of men ; Morality is an expression of the deeper law of evolution of the universe. *Dharm* is the concept which expresses this cosmic law-commitment and universal norm-abidingness, this notion of a fundamental harmony and equilibrim in nature and society.

On the human level of existence *Dharm* stands for the total of qualities and capacities which are characteristic of man by virtue of his nature, as well as for the deepest norm which imparts unity and gives direction to his behaviour,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

both as an individual and as a member of society. Man ought to behave in conformity with *Dharm,* because otherwise he would act against the law of his own being. Deviation from the inherent norm leads to disturbance of equilibrium, by which a process is set into motion leading to a restoration of balance. Hence the famous saying by *Manu* that the violator of dharm is slain and the defender of dharm is protected *Dhaoma eva hato hanti, dharmo rakshati rakhitah !*

On the human behavioural level a disturbance of balance may cause very serious consequences, both in individual and in social respect, not only in this life but also in future lives ! The law governing, human behaviour is known as *Karma* (literally : deed, action). In metaphysical sense karma is nothing but the embodiment of *Dharm* : the *Law of Karma* is the dynamic law which makes a correct functioning of dharm possible. While Dharm is the law of being of the material and spiritual universe, Karma is the law of behaviour which is inexorable for all levels of existence and which is indispensable for the functioning of the world order. The *Law of Karma* is the dynamic principle which sees to it that equilibrium in nature and society is maintained and, when disturbed, order is restored. Karma is the law of cause and effect and the law of conservation of energy.

Human Behaviour

The fact that in the empirical world the phenomenon of change is universal-'everything becomes, nothing is'—forms an indication for the existence of a centre of force, which makes these changes possible. The historical forms do not continue to exist, but disappear again after appearance (*loke yad-arabdham tad-aniṭyam*); their basis, however, the ultimate real (*Sat*), exists for all times (kalatrayasattavan). This fundamental view is beautifully expressed in the *Bhagvad-Giṭa* : 'Nasato vidyate bhavo, nabhavo vicyate satah'—'What is not, cannot be; what is, cannot not-be' !

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

It is this metaphysical truth which underlies the law of conservation of energy. This conservation law is generally aceepted for the physical world. Energy (*urja*)--whatever this may be in essence--is constant and eternal : it does not originate and does not perish, but it is only transformed. It is not energy itself, but always one or other manifestation of it that is perceived by our organs of sense and that is recorded by sensitive instruments. The total quantity of energy is unchangeable : all energy is conserved and exists eternally.

The *Law of Karma* in the most universal law of conservation of energy, which has a bearing both on physical and non-physical energy, and thus holds good for oll levels of behaviour, also for human behaviour. It is always the same Divine Energy (*Shakti*), which manifests itself both on the physical and on the mental plane : the same energy that makes the gorgeous flower bloom, also makes the poet create his masterpiece ! The physical law of conservation of energy is a special case of the universal Law of Karma : it is but a question of coarsening and rounding off, and a more accurate formulation on the basis of more refined measuring techniques and improved methods of observation may perhaps indicate that differences in energy occur that cannot fully be accounted for by the existing transformation equations.

The *Vedanta* takes the stand that the universe down to its deepest core is bound by laws, and that this law-commitment is an expression of the Divine Spirit, which as energy (*Shakti*) governs and pervades as well as transcends everything, is both immanent and transcendent. Although the true nature of Brahman is hidden from us (*Maya*), still as energy it is omnipresent (*saravvapak*). The whole forms a continuum : a spectrum of energy, stretching from spiritual and mental energy (effort and intention, thought, emotion and will, etc.) on the one end via the subtle forms of physical energy (radiation and heat) to the grossest from of energy (mass of solid matter) on the other end.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The process of evolution is a transformation ofBrahman via the subtle and gross forms of matter and the various biological forms of life towards a progressive enlargement of consciousness, until this becomes cosmic and the divine light is found in one's own heart (hridayāntar jyotih). In the Taittiriya Upanishad five levels of behaviour are described : the levels of matter (ann), life (prāṇ), mind (man), reason (vijñān), and bliss and unity (ānand). Ordinarily man exists on the fourth level, but at the same time he is dimly aware of a universal reality and is in search of it, until he reaches enlightement : the subject-object bifurcation disappears and eternal bliss becomes his share.

All these transformations are governed by the Law of Karma, the dynamic principle of conservation and causality, also on the level of human conduct. And it is precisely this Karma in ethical sense which has rightly become widely know, but which has also given much occasion for misunderstanding and confusion. For too often Karma is taken in the theological or juridical meaning of sin and virtue or punishment and reward, which, however, is not the case. It is true that the terms good and bad karma (*su*-and *kukarm*) are used to denote that there is or there is not concordance with the law of being (*dharm*)—therefore these are also called *dharm* and a*dharm* respectively-but they are not meant in a retributive sense : it is not so much a question of retribution, but of the operation of a fundamental law, which regulates causally the transformation of energy, in this case the transformation of moral energy.

Ethically speaking Karma stands for the total of actions (in any conceivable form), which do not disappear into a void, but are conserved (just as in the physical world it is the case with physical energy), and infallibly cause their own effects in the spiritual or moral world. Man can perform Karma in three ways : by thought (*man*), by word (*vani*) and by deed (*kārya*). What man thinks, says or does—and

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

even what he does not think, say or do-is Karma and will have influence on his character and his future, Sin and retribution, punishment and reward in the popular sense are not involved here. That in everyday life these and similar concepts are employed is, of course, under standable; and this need not give rise to any objection, if only we remain conscious of the deeper significance of Karma (Just as there is no objection against the use of expressions like "The sun rises or sets", though on a deeper empirical level than everyday visual perception the correct for mulation is that the earth revolves around the sun !).

Karma, therefore, is not a principle of retribution but of continuity : it connects past, present and future into an unbreakable whole, on the basis of a spiritual and moral causality, which governs the evolution towards a higher level of consciousness. Interpretd in ethical terms : every action, which promotes or hinders this evolution towards realization of the self is considered good or bad respectively. Karma guarantees that no human effort or activity gets lost, but that all energy is inexorably conserved and causally transformed, and thus exercises influence on the shaping of man's future, both ih this life and the life hereafter.

The principle of evolutionary law-abidingness—in moral and juridical sense expressing itself e. g. as the principle of justice—cannot relate only to this life, but supposes a continuous process of coming and going. This life is not the only one, but a link out of a chain of lives. The life hereafter is not a deadless existence, but a process of periodical decay of the body and accepting of a new appearance. Man is immortal, therefore he must die endlessly. So as each time to approach a little nearer to Spiritual Perfection. This is the famous idea of reincarnation : *Punarjanma* (literally : rebirth) or *Āvāgaman* (literally : coming and going), technically called *Sansār* (from sansri=to flow on).

—(Continue)

312

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

FLATTER YOUR FEMININITY
WITH

KHATAU VOILES

IN

A Refreshingly Original Array

of

DESIGNS

The Khatau Makanji Spg.
&
Wvg. Co. Ltd.

LAXMI BUILDING
6–SHOORJI VALLABHDAS MARG

FORT : BOMBAY–400 038

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

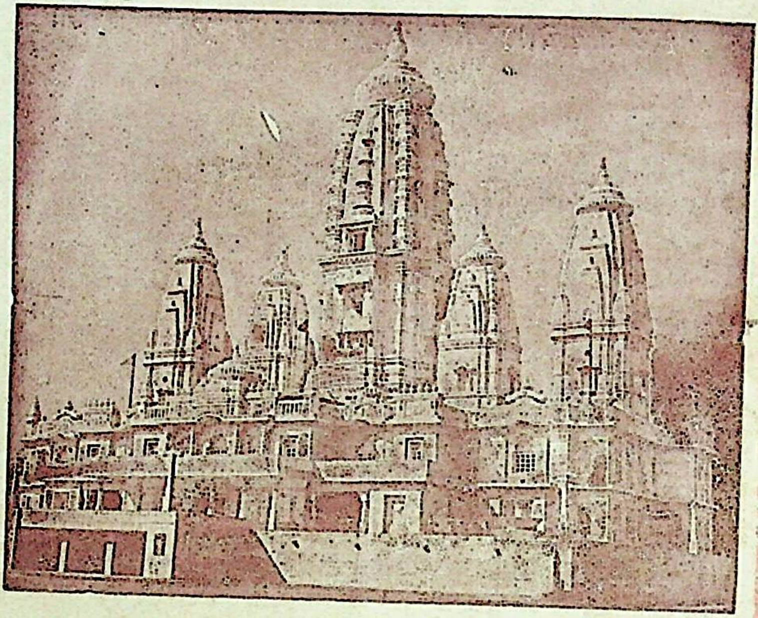

हर कार्य में ईश्वर का ही स्मरण करो

कुछ ऐसे हैं जो ईश्वरोपासना में विश्व को भुला देते हैं.
कुछ ऐसे दुनियादार हैं जो ईश्वर को ही भूल जाते हैं
पर जे०के० में हम हर काम में ईश्वर का स्मरण करते हैं और यही हमारी सफलता की कुन्जी है।

"कर्म ही पूजा है"--जैसे तथ्य को चरितार्थ करने के लिए हमने अच्छा वातावरण ही उत्पन्न नहीं किया अपितु ऐसे पुण्य स्थलों का निर्माण तथा सामाजिक एवं धार्मिक संगठनों का गठन भी किया है।

इस प्रकार हमने आध्यात्मिक, नैतिक एवं बन्धुत्व की भावना को लिये हुये जीने की कला सीखने में योगदान किया है।

जे.के. ऑरगनाइज़ेशन
राष्ट्रीय दक्षता एवं व्यवसायिकता का सामंजस्य

सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकानन प्रेस, सीके. ३६/२० वाराणसीसे मुद्रित।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi